भगवान बुद्ध

निन्दसि यज्ञविधेरहहश्रुतिजातम्
सदयहृदयदर्शितपशुघातम्
केशव धृत 'बुद्ध'शरीर, जय जगदीश हरे !
—गीतगोविन्दम् ।

पंडित शशिनाथ चौधरी, बी० ए०, बी० ई-डी०
सब-इन्स्पेक्टर-ऑफ-स्कूल्स, भागलपुर

हिन्दी-पुस्तक-भंडार
लहेरियासराय
१)

प्रकाशक

वैदेहीशरण

अध्यक्ष—हिन्दी-पुस्तक-भंडार

लहेरियासराय (बिहार)
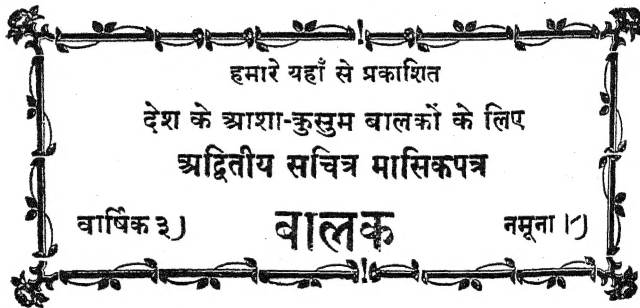
प्रथम संस्करण, गंगा-दसहरा १९८४

मुद्रक

अग्रवाल प्रेस, बनारस-कैंट

विषय-सूची

हमारी सर्वांगसुन्दर पुस्तक-मालायें

सत्यं शिवं सुन्दरम् !!!

सुबोध काव्य-माला

१ बिहारी-सतसई दूसरा सं० १)
२ विद्यापति की पदावली २)

सुन्दर साहित्य-माला

१ पद्य-प्रसून (काव्य) १॥)
२ बिहार का साहित्य १॥।)
३ निर्माल्य (काव्य) १)
४ दागेजिगर (समालोचना) १।)
५ नवीन वीन (काव्य) २)
६ देहाती दुनिया (उपन्यास) १॥
७ कविवर 'मीर' (समा०) १॥।)
८ महिला-महत्त्व (कहानियाँ) २)
९ प्रेम-पथ (उपन्यास) १॥।)
१० प्रेमिका (उपन्यास) २॥)

बाल मनोरंजन-माला

१ बगुला भगत ।≈)
२ सियार पाँड़े ।≈)

सरल-पद्य-माला

१ बाल-विलास (हरिऔध) ।)
२ कविता-कुसुम (संग्रह) ।)

सचित्र ! विचित्र !! पवित्र !!

चारु-चरित-माला

१ शिवाजी ।)
२ गुरु गोविन्द सिंह ।)
३ विद्यापति ।)
४ माइकेल मधुसूदन ।)
५ बाबू लंगटसिंह ।)

महिला-मनोरंजन-माला

१ दुलहिन ।)
२ सावित्री ।)
३ अहिल्याबाई ।)

नवयुवक-हृदय-हार

१ प्रेम (गद्य-काव्य) ।≈)
२ जयमाल (उपन्यास) ।≈)
३ विपंची (कविता) ।)
४ मधु-संचय (काव्य-संग्रह) ।≈)
५ अन्तर्जगत (काव्य) ।)
६ मैत्रीधर्म (शिक्षाप्रद निबंध) ।)
७ यूथिका (कहानियाँ) ।≈)

हिन्दी-पुस्तक-भंडार, लहेरियासराय

वक्तव्य

बुद्धदेव के जीवन-चरित में 'दया' और 'सरलता' के भाव प्रत्येक घटना से प्रकट होते हैं। 'त्याग' के तो वह आदर्श ही हैं। यदि सच पूछिये, तो 'त्याग' के बिना 'दया' और 'सरलता' की स्थिति सम्भव ही नहीं। इन्हीं तीन महान् उद्देश्यों को सम्मुख रखकर मैंने इस छोटी पुस्तक (भगवान बुद्ध) के लिखने का प्रयत्न किया है।

यह पुस्तक खासकर बालकों के लिए लिखी गई है। इस हेतु इसकी भाषा—भाव कठिन होने पर भी—जहाँ तक हो सका, सरल बनाने की चेष्टा की गई है। पुस्तक बालकों के योग्य होगी या नहीं, इसकी परीक्षा के लिए मैंने दो लेख—'बुद्धदेव का जन्म' और 'बुद्धदेव का बचपन'—'बालक' में प्रकाशनार्थ भेजे। 'बालक'-सम्पादक ने भाषा और लेखनशैली खूब पसंद की। परन्तु सम्पादक महोदय मेरे मित्र हैं, अतः मुझे पुस्तक लिखने का साहस नहीं हुआ। हाँ, जब उन्होंने श्रीयुत शिवपूजन सहायजी की सम्मति प्रकट की, तो मैं लाचार हो गया। विवश होकर पुस्तक को समाप्त करना पड़ा।

बुद्धदेव के सम्बन्ध की जितनी पुस्तकें आजतक लिखी गई हैं, सब बहुमूल्य हैं। सब में कुछ-न-कुछ विशेषता अवश्य है। परन्तु मेरी समझ से ऐसी पुस्तक राष्ट्रभाषा 'हिन्दी' में एक भी नहीं लिखी गई, जो खासकर बालकों के लिए हो। प्रस्तुत पुस्तक केवल बालकों के लिए लिखी गई है। आबाल-

वृद्ध-वनिता इससे लाभ उठा सकते और अपना मनोरंजन कर सकते हैं। परन्तु, यदि इस पुस्तक से उनकी रुचि-तृप्ति नहीं हुई, तो मैं दोष-भागी नहीं; क्योंकि मैंने इसे सरल, सुबोध और मनोरंजक बनाने की पूरी चेष्टा की है।

यह पुस्तक बड़ी शीघ्रता में लिखी गई है। पांडुलिपि में अनेक दोष रह गये थे। इस कारण मैंने 'बालक'-सम्पादक मित्रवर 'बेनीपुरीजी' को सम्पादन करने का भार दिया, जिसे उन्होंने सहर्ष स्वीकार किया। अब, आशा है कि कोई भूल पुस्तक में न होगी। यों तो मनुष्य की कृति सर्वथा निर्दोष हो ही नहीं सकती।

इसके लिखने में अनेक पुस्तकों की सहायता ली गई है। उन पुस्तक-लेखकों के प्रति मैं अपनी कृतज्ञता प्रकट करता हूँ, जिनकी सहायता के अभाव में यह पुस्तक प्रस्तुत नहीं हो सकती थी। रचना की शैली एक अँगरेजी पुस्तक के आधार पर है, जो मुझे अतिशय रुचिकर प्रतीत हुई।

मैं 'बालक'-सम्पादक श्रीयुत रामवृक्ष शर्माजी का चिर-ऋणी हूँ, जिनके उत्साह और सहायता से यह पुस्तक ऐसी सुन्दर और शुद्ध तैयार हुई है।

अन्त में साहित्य-प्रेमी और 'बालक' के उत्साही पोषक तथा हिन्दी-पुस्तक-भंडार के संचालक श्रीयुत रामलोचनशरणजी को धन्यवाद दिये बिना नहीं रह सकता, जिन्होंने पुस्तक-प्रकाशन का भार स्वीकार किया है।

लेखक

भगवान बुद्ध

जन्म

उत्तर-भारत में गंगा-नदी के तट पर बिहार-प्रान्त की राजधानी 'पटना' है। पटने से लगभग २८० मील की दूरी पर पश्चिम की तरफ अवध है, जहाँ प्राचीन काल में श्रीरामचंद्रजी राज्य करते थे। बिहार उस समय दो भागों में बँटा हुआ था—मगध और मिथिला।

अवध के उत्तर-पूरब कोने में राप्ती-नदी बहती है। इस नदी के पूरब की जमीन बहुत उपजाऊ है। यहाँ जल का अभाव नहीं होता। धान की खेती खूब होती है। जंगल भी अधिक हैं। आम और जामुन के पेड़ बहुत हैं। इसके पूरब में रोहिणी-नदी है। वह राप्ती में ही जाकर मिल जाती है।

जहाँ दोनों नदियाँ मिलती हैं, वहीं प्रसिद्ध नगर 'गोरख-पुर' बसा हुआ है। इसके उत्तर में नैपाल है। उसके पास ही विशाल हिमालय खड़ा है। इस प्रदेश के रहने वाले 'शाक्य' कहलाते थे। उनकी राजधानी 'कपिलवस्तु' थी!

हजारों वर्ष बीत गये, पोतल नामक देश में एक राजा राज्य करता था। उसके पाँच पुत्र थे। रानियाँ भी पाँच ही थीं। सबसे छोटी रानी को वह बहुत अधिक प्यार करता था। उसने किसी समय यह प्रतिज्ञा की थी कि तुम्हारे पुत्र को ही राज्य दूँगा। इस कारण शेष चारो पुत्र वन में चले गये। साथ-साथ उनकी बहनें और दास-दासियाँ भी चली गईं; और कितने दूसरे लोग भी राज्य छोड़कर उनके साथ जंगल में चले गये।

घर से निकलकर वे उत्तर की ओर चल पड़े। कई दिन तक वन में घूमने के बाद वे एक ऐसे स्थान में पहुँचे, जहाँ नदी बह रही थी, वृक्षों में फल लग रहे थे, फूल खिल रहे थे, और हिमालय भी साफ नजर आ रहा था।

उस सुन्दर नदी के किनारे सब-के-सब ठहर गये। वहीं रहने के लिए झोपड़ियाँ बनाईं। जंगल में खूब शिकार भी खेलते और घूम-घूमकर भोजन का सामान भी लाते।

उसी नदी के तीर पर कपिल मुनि रहते थे। उन्होंने राजकुमारों को अनेक उपदेश दिये—उन्हें एक नगर बसाने की सलाह दी। राजकुमारों ने एक नगर बसाया। उसका नाम रखा कपिलवस्तु। कपिलजी ने मंत्र पढ़कर नगर के चारो ओर जल छिड़क दिया, और कहा—यह नगर संसार में बहुत प्रसिद्ध होगा।

कई वर्षों के बाद पोतल-देश के राजा ने यह खबर पाई कि उनके लड़कों ने एक नगर बसाया है। इस समाचार को सुन-

कर उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा। पुत्रों की बहादुरी पर वह मुग्ध हो गये। उसी समय उन्हें 'शाक्य' अर्थात् 'बलवान' की पदवी दी।

वे राजकुमार और उनके वंश वाले उसी समय से 'शाक्य' कहलाने लगे। शाक्यवंश में कितने ही वीर और प्रतापी राजा हुए। कुछ काल के बाद रोहिणी-नदी की दूसरी तरफ एक नया शहर बसा, जिसका नाम पड़ा 'कलि'।

आज से पचीस सौ वर्ष पहले कपिलवस्तु में शुद्धोदन नामक एक शाक्यवंशी राजा राज्य करते थे। कलि-देश के राजा की दो कन्याओं (माया और प्रजापति) के साथ उनका विवाह हुआ। पर सन्तान का अभाव हो गया। बेचारे बहुत दुःखी हुए। सदा इसी सोच में रहने लगे कि इतने बड़े राज्य का उत्तराधिकारी कौन होगा।

कुछ दिनों बाद महारानी माया ने चार विचित्र स्वप्न देखे। राजा ने ज्योतिषियों को बुला भेजा। चौसठ ज्योतिषी दरबार में हाजिर हुए। राजा ने उनका उचित सत्कार किया। फिर बड़ी नम्रता से रानी के सपने की बात कही।

ज्योतिषियों ने विचार कर कहा—स्वप्न बहुत अच्छे हैं। शीघ्र ही श्रीमान् के एक पुत्र उत्पन्न होगा। उस पुत्र के शरीर में महाप्रतापी होने के बत्तीस चिह्न होंगे। परन्तु एक बात और भी है। वह बालक या तो गृहस्थ-राजा होगा अथवा राज-पाट छोड़कर संसार को उपदेश देता फिरेगा। किन्तु दोनों अवस्था में उसकी कीर्ति बहुत फैलेगी। यदि वह संन्यासी

नहीं हुआ, तो निश्चय है कि चक्रवर्त्ती राजा होगा—बडे-बड़े राजे-महाराजे उसके सामने अपना सिर टेकेंगे।

ज्योतिषियों की बातें सुनकर राजा बहुत आनन्दित हुए। ब्राह्मणों और दुखियों को अन्न-वस्त्र लुटाने लगे। दिन-दिन उनकी आशा-लता लहलहाने लगी।

महारानी माया के गर्भ से एक पुत्र-रत्न उत्पन्न हुआ। राजा और रानी के आनन्द का ठिकाना न रहा। इस शुभ समाचार को सुनकर प्रजा भी आनन्द मनाने लगी। घर-घर बधावे बजने लगे।

पुत्र-जन्म के समय कई अद्भुत घटनायें हुईं, जैसी प्रायः अवतारी महापुरुषों के जन्म-काल में हुआ करती हैं—सूखे हुए पेड़ों में नये-नये पत्ते लग गये, सूखी नदियाँ निर्मल जल से भर गईं, चारों ओर एक विचित्र प्रकाश फैल गया, शीतल-मन्द-सुगन्ध हवा बहने लगी। और, देवता-गण दुन्दुभी बजाकर आकाश से फूल की वर्षा करने लगे।

हिमालय-पर्वत से राजा के पास एक योगी आये। बोले—आपके जो एक पुत्र हुआ है, वह बहुत तेजस्वी होगा। लोग उसे 'बुद्ध' कहेंगे। दुःख है कि उस समय तक मैं इस संसार में न रहूँगा।

इतना कहकर योगी महाराज चले गये। बुद्ध के जन्म लेने के सात दिन बाद महारानी माया की मृत्यु हो गई। दूसरी रानी 'प्रजापति' ने बालक को अपने पुत्र के समान पाला-पोसा। समय पाकर एक शुभ लग्न में बालक का नाम 'सिद्धार्थ' रखा गया। वही सिद्धार्थकुमार 'बुद्धदेव' हुए।

बचपन

भगवान बुद्ध के अनेक नाम हैं—बुद्ध, सिद्धार्थ, गौतम, शाक्यमुनि, शाक्यसिंह, जिन, भागवत आदि। वह गौतम-वंश के थे—इस हेतु लोग उन्हें 'गौतम' कहते हैं। उनके माता-पिता उन्हें 'सिद्धार्थ' कहकर पुकारते थे—जिसे सब वस्तु प्राप्त हों, किसी चीज के पाने की अभिलाषा न रह जाय, उसे सिद्धार्थ कहते हैं। 'बुद्ध' नाम नहीं है; यह एक उपनाम है। परन्तु लोग इसे नाम ही की तरह व्यवहार में लाते हैं। यह पद गौतम को उस समय मिला था, जब उन्होंने 'गया' में बोधिसत्व नामक वट-वृक्ष के नीचे ज्ञान प्राप्त किया था। वह 'गौतमबुद्ध' भी कहलाते हैं। शाक्य-वंश के थे और घर छोड़कर योगी हुए थे; इसलिए उन्हें 'शाक्य-मुनि' कहते हैं। चीन-देश के बौद्ध-धर्मावलम्बी उन्हें इसी नाम से पुकारते हैं। शाक्य-वंश में उनके समान वीर कोई भी नहीं हुआ था; इसलिए उन्हें 'शाक्यसिंह' भी कहते हैं। उन्होंने अपनी सब इन्द्रियों को अपने वश में कर लिया था, इस हेतु वह 'जिन' कहलाते हैं। वह ईश्वरीय गुणों से सम्पन्न थे, इसलिए 'भागवत' कहलाते हैं।

उनके और भी कितने ही नाम हैं, जिनसे उनके अनुयायी, बौद्ध-धर्म के माननेवाले, उन्हें पुकारते हैं।

राजा शुद्धोदन अपने पुत्र सिद्धार्थ को बहुत प्यार करते थे। जब सिद्धार्थ बच्चे थे—अपनी धाई की गोद में ही खेलते थे—तब से ही लोग उन्हें देखकर मुग्ध हो जाते थे। वह देखने

में बहुत सुन्दर थे और बचपन से ही बहुत शान्त मालूम पड़ते थे। परन्तु जब कभी शुद्धोदन अपने प्यारे पुत्र को देखते थे, उन्हें उस हिमालय वाले योगी की बात याद हो आती थी, जिसने सिद्धार्थ के जन्म के समय कहा था—यदि यह घर पर रहेगा, गृहस्थ रहेगा, तो चक्रवर्ती राजा होगा; पर यदि संन्यासी हो गया, तो 'बुद्ध' कहलायेगा और संसार का उपदेशक बनेगा। यह सोचकर राजा चिन्ता में पड़ जाते। सिद्धार्थ चक्रवर्ती राजा हो, वह यही चाहते थे।

शुद्धोदन ने अपने नौकरों को आज्ञा दी कि सिद्धार्थ के समीप केवल सुन्दर और चित्ताकर्षक वस्तु रहें; काम की जितनी चीजें हों, सब समीप ही रहें, जिससे राजकुमार को बाहर न जाना पड़े। इस हेतु राजमहल के हाते के भीतर ही अनेक फुलवाड़ियाँ लगाई गईं, जिनमें सब ऋतुओं के फूल-फल लगे रहते थे; तालाब और कूप खुदाये गये; नहर भी खुदाई गई, जो नदी के समान मालूम पड़ती थी और जिसमें नाव पर चढ़कर सिद्धार्थ जल-क्रीड़ा किया करते थे। राजा शुद्धोदन की यह कड़ी आज्ञा थी कि ऐसी कोई भी वस्तु राजमहल के घेरे के भीतर न रहे, जिससे सिद्धार्थ के मन में भय उत्पन्न हो। कोई भी कुरूप मनुष्य राजमहल के पास नहीं आ सकता था। अन्धे, लँगड़े, काने, राजमहल के पास नहीं आ सकते थे। इस प्रकार सिद्धार्थ को अपने चारो ओर सुन्दर-ही-सुन्दर पदार्थ देख पड़ते थे। उनके पास बहुत-से नौकर मौजूद रहते, जो उनकी आज्ञा के अनुसार फौरन से पेश्तर काम कर डालते थे।

सिद्धार्थ की जन्मभूमि 'कपिलवस्तु' की जमीन बहुत उपजाऊ थी। कई नदियाँ उसमें बह रही थीं। वहाँ धान की खेती बहुत होती थी। खेतों के आसपास घने जंगल भी थे।

जेठ-महीने में कपिलवस्तु में एक त्योहार होता था। उस दिन राजमहल खूब सजाया जाता था। द्वार पर लोगों की बहुत भीड़ होती थी। गाँव के प्रतिष्ठित व्यक्ति हल और बैल लेकर आते थे। राजा का एक हल और एक बैल रहता था, और एक मंत्री का भी। राजा के हल में सोने का काम किया रहता था, बैल की सींगें सोने से मढ़ी हुई होती थीं। मंत्री के हल में चाँदी का काम रहता था, और उसके बैल की सींगें चाँदी से मढ़ी रहती थीं। सब सजधज कर एक खेत में जाते थे। पहले राजा खेत में हल चलाते थे, तब मंत्री। उसके बाद जमींदार, और सबसे पीछे किसान। बाद में सब लौट कर अपने-अपने घर आ जाते थे। खेती का काम इसके बाद आरम्भ होता था।

जब सिद्धार्थ दस वर्ष के हुए, राजा ने उन्हें इस त्योहार में ले आने को विचारा। वह यह चाहते थे कि प्रजा मेरे सुन्दर पुत्र को देखे और देखकर सब प्रसन्न हों। उन्होंने अपना विचार मंत्री से कहा। राजकुमार को ले जाने के लिए मंत्री अच्छी तरह तैयारी करने लगे। राजद्वार सजाया गया। राजमहल से लेकर जहाँ त्योहार होता था वहाँ तक केले के खम्भे सजाये गये, पताकायें बाँधी गईं और भिन्न-भिन्न प्रकार की मालायें लटकाई गईं। सड़कों के दोनो ओर लोगों की भीड़

राजकुमार को देखने के लिए लगी हुई थी। कोई सड़क पर था, कोई अपने दरवाजे पर, और कोई छत पर। अमीर लोगों के घर की स्त्रियाँ खिड़की से झाँकती थीं। सब राजकुमार को देखने के लिए उत्सुक थे, क्योंकि आज तक बाहर के किसी आदमी ने उनको नहीं देखा था।

चलने का समय हुआ। राजकुमार ने अपने राजसी वस्त्र पहने। राजा, मंत्री और कर्मचारी भी अपनी-अपनी तैयारी करने लगे। राजा और मंत्री के साथ राजकुमार महल से बाहर निकले। पीछे-पीछे दरबारी चले। सबसे आगे एक हाथी पर राजा और राजकुमार बैठ गये, और दूसरे हाथी पर मंत्री और प्रधान कर्मचारी-गण। पीछे दरबारियों की सवारी चली। साथ में कितने ही रथ, एक बड़ी सेना, और घोड़े-हाथी थे। बाजे बजते थे। राजकुमार को देखकर लोग बहुत प्रसन्न हुए। उनपर फूल बरसाने लगे। राजा इस दृश्य को देख-देख कर बहुत प्रसन्न होते।

उत्सव के स्थान पर पहुँचकर राजा ने आज्ञा दी कि राज-कुमार की सवारी भीड़ से अलग किसी दूसरे स्थान में रखी जाय। थोड़ी दूर पर एक जामुन का पेड़ था। उसी के नीचे एक शामियाना खड़ा किया गया, और एक पलँग बिछाया गया। शामियाना के तीन ओर कपड़े से घेर दिया गया। पश्चिम ओर से द्वार खुला रहा। राजकुमार यहीं पर ठहराये गये। उनके साथ दासियाँ और नौकर भी थे।

उत्सव के स्थान में शोर गुल होना स्वाभाविक ही है। राज-

कुमार के रक्षक दृश्य देखने के लिए उत्सुक हो रहे थे। एक-एक कर सब खेमे के बाहर चले गये। चलने के समय हर-एक यह कहता था कि मैं तुरत लौटकर आ रहा हूँ। वहाँ जाने पर वे तमाशे देखने में मग्न हो जाते थे, और राजकुमार को भूल जाते थे। जब बहुत देर हो चुकी, सूर्य्य को पश्चिम में देखकर, नौकरों को खयाल हुआ कि राजकुमार को चलकर देखें। सूर्य पश्चिम में उतर चुके थे। नौकरों ने सोचा कि राजकुमार बड़ी धूप में पड़ गये होंगे। जब वे वहाँ पहुँचे, तो उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा। देखा कि राजकुमार एक योगी की भाँति आसन लगाकर आँख बन्द किये बैठे हैं, और वृक्ष की छाया उनपर पड़ रही है। और-और वृक्षों की छाया तो पश्चिम से पूरब चली गई थी; परन्तु जामुन के वृक्ष की छाया, जिसके नीचे राजकुमार ध्यान में मग्न बैठे थे, ज्यों-की-त्यों पशिचम में टिकी हुई थी !

यह समाचार राजा शुद्धोदन के कानों तक पहुँचा। वह सिद्धार्थ के पास घबराये हुए पहुँचे। राजकुमार को छाया में बैठा देखकर राजा ने सोचा कि यह कोई असाधारण मनुष्य है। झट उन्होंने हाथ जोड़कर सिर झुकाया, और राजकुमार की पूजा-अर्चा की।

पाँच वर्ष की उमर से ही सिद्धार्थ ने पढ़ना आरम्भ कर दिया था। दस वर्ष की अवस्था में वह अनेक शास्त्र पढ़ चुके थे। उनके साथ पाँच सौ ब्रह्मचारी भी पढ़ रहे थे। सबसे तेज वही निकले। शिक्षक को जो कुछ आता था, वह सब

सीख चुके । गुरुजी ने राजा से साफ-साफ कह दिया—महाराज, अब मेरे पास ऐसा कोई भी शास्त्र अथवा विद्या नहीं है, जो मैं राजकुमार को बताऊँ । सिद्धार्थ ने साहित्य, व्याकरण, धर्मशास्त्र, ज्योतिष आदि शास्त्रों को पढ़कर तलवार, तीर और भाला चलाना, हाथी और घोड़ों की सवारी करना, अच्छी तरह सीख लिया था ।

सिद्धार्थ के एक सौतेला भाई था, जिसका नाम नन्द था । उनका एक चचेरा भाई भी था, जिसे लोग देवदत्त कहकर पुकारते थे । ये दोनों राजकुमार के साथ ही नदी-तट पर खेलने के लिए जाया करते थे । देवदत्त का स्वभाव अच्छा नहीं था । वह सिद्धार्थ से द्वेष रखता था । वह यह नहीं चाहता था कि लोग सिद्धार्थ की प्रशंसा करें । वह जन्म-भर सिद्धार्थ का विरोधी रहा ।

रोहिणी-नदी के किनारे एक बहुत बड़ा वृक्ष था । संयोगवश वह नदी में गिर पड़ा । फल यह हुआ कि एक तरफ तो पानी बहुत बढ़ गया और दूसरी ओर जल कमने लगा । इससे लोगों को बहुत कष्ट हुआ । पेड़ बहुत बड़ा था । लोगों ने उसे नदी से बाहर निकालने का यत्न भी किया, परन्तु वह नहीं निकला । लोगों का दुःख सिद्धार्थ से देखा नहीं गया । वह नदी के तट पर से ही वृक्ष की जड़ को खींचकर बाहर ले आये । सब कोई उनको इसके लिए आशीर्वाद देने लगे और उनकी प्रशंसा करने लगे । ऐसे तो वह वीर थे !

एक दिन सिद्धार्थ और देवदत्त एक साथ फुलवाड़ी की

ओर से नदी के तट पर खेलने के लिए जा रहे थे। उन्होंने देखा कि हंस का एक झुंड आकाश में उड़ता हुआ जा रहा है। देवदत्त ने एक तीर चलाया। उनमें से एक हंस, तीर लगने से, पृथ्वी पर गिर गया। राजकुमार सिद्धार्थ ने देखा कि तीर उस पक्षी के शरीर में बुरी तरह चुभ गया है, और उसकी देह से खून बह रहा है। उन्होंने प्रेम से उस हंस को उठा लिया, तीर को निकाल डाला और खून को पोंछ दिया। देवदत्त उसके पास पहुँचा और सिद्धार्थ से हंस को माँगने लगा। राजकुमार ने कहा कि यह पक्षी मेरा है, क्योंकि मैंने इसे बचाया है; यह तुम्हारा कैसे हो सकता है? तुमने तो इसे जान से ही मार डाला था।

यह कहकर उन्होंने हंस को छाती से लगा लिया! सचमुच उन में वीरता के साथ-साथ दया भी पूरी थी!

युवावस्था

अब सिद्धार्थ युवावस्था में पदार्पण कर रहे थे। महारानी 'प्रजापति' ने राजा शुद्धोधन से कहा कि राजकुमार ब्याहने योग्य हो गये हैं। राजा ने सोचा कि विवाह हो जाना ही अच्छा है। उनको उस योगीराज की बात याद आई, जिन्होंने कहा था कि यह संन्यासी भी हो सकता है। उन्होंने सोचा कि विवाह हो जाने पर यह संन्यासी नहीं होगा, इसका चित्त स्त्री और बाल-बच्चों में लग जायगा। फलतः राजकुमार के लिए एक योग्य राजकुमारी की खोज होने लगी।

उस समय 'यशोधरा' नाम की राजकुमारी शाक्यवंश में सबसे अधिक सुन्दर स्त्री थी। राजा ने उसी के साथ सिद्धार्थ का विवाह करना निश्चय किया। रानी और मंत्रियों की राय भी ली गई। सब कुछ ठीक हो जाने पर एक शुभ मुहूर्त्त में विवाह का दिन निश्चित हुआ। विवाह की तैयारी बड़ी धूमधाम के साथ की गई। उस समय 'कपिलवस्तु' इन्द्रपुरी के समान सुन्दर देख पड़ने लगा। यशोधरा राज-महल में आई। सिद्धार्थ और यशोधरा दोनों एक दूसरे से अधिकाधिक प्रेम करने लगे।

राजा शुद्धोदन के रहने के लिए छः बड़े ही सुन्दर महल थे। छओ छः प्रकार के बने थे, और छओ में छः ऋतु के अनुसार छः प्रकार की सामग्री थी। एक महल में वसन्त-ऋतु की, दूसरे में ग्रीष्म-ऋतु की, तीसरे में वर्षा-ऋतु की, चौथे में शिशिर-ऋतु की, पाँचवें में हेमन्त-ऋतु की और छठे में शरद्-ऋतु की। जब जैसी ऋतु रहती थी, राजा उसी के अनुसार उपयुक्त महल में दो महीनों तक रहते थे। उसके बाद फिर अपना वासस्थान बदल देते थे। एक मकान पाँच महल का था, दूसरा छः का, तीसरा सात का, चौथा आठ का, पाँचवाँ नौ का और छठा दस का।

राजकुमार के साथ चालीस हजार नर्तकी (नाचने वाली स्त्रियाँ) थीं। ये सब बहुत सुन्दरी तो थीं ही, शृंगार भी खूब किये रहती थीं। इनमें से कितनी गाने में प्रवीण थीं और कितनी नाचने में, और कितनी भिन्न-भिन्न प्रकार के बाजे

बजाने में। सिद्धार्थ को जब जिस प्रकार का गाना सुनने को जी चाहता था, सुन सकते थे; जब नाच देखने की इच्छा होती थी, केवल इशारा कर देने पर ही झुंड-की-झुंड स्त्रियाँ नाचने को तैयार हो जाती थीं। कहने का तात्पर्य यह कि सिद्धार्थ की इच्छा पूर्ण होने में थोड़ा भी विलम्ब नहीं होता था। अपने पुत्र की इस अवस्था को देखकर राजा शुद्धोदन अत्यन्त प्रसन्न रहा करते थे।

कुछ समय यों ही बीता। जब चार-पाँच वर्ष बीत चुके, तो सिद्धार्थ के चचा और दूसरे-दूसरे राज-सम्बन्धियों को यह बहुत ही बुरा मालूम हुआ कि शाक्य-वंश का क्षत्रिय राजकुमार अपना समय ऐश-आराम में बितावे। वे कहने लगे कि राजकुमार को शस्त्र-विद्या सीखनी चाहिये, राजनीति में निपुण होना चाहिये। यदि ऐसा नहीं हुआ, तो इस राजकुमार से भविष्य में देश की क्या भलाई होगी। यदि देश में उपद्रव मचे, तो दुष्टों को कौन दमन करेगा। यदि किसी दूसरे राजा से लड़ाई छिड़ी, तो युद्ध-क्षेत्र में शाक्यों का नेता कौन होगा।

इसी विचार को लेकर राज-वंश के सब वयोवृद्ध क्षत्रिय शुद्धोदन के पास पहुँचे, और उनसे अपने मन की बात कही। राजा शुद्धोदन ने राजकुमार को बुला भेजा। सिद्धार्थ आये। तब राजा ने कहा कि तुम्हारे जाति-भाई कहते हैं कि तुम अपना कर्त्तव्य नहीं कर रहे हो; तुम सब समय गाना-बजाना सुनने और नाच-रंग देखने में ही बिताते हो, जो राजकुमार के लिए अच्छी बात नहीं है।

राजकुमार ने कहा—पिताजी, मैं अस्त्र-विद्या में निपुण हूँ। यदि जी चाहे, तो इसकी परीक्षा कर लीजिये। मैं शाक्यवंश के किसी भी राजकुमार से योग्यता में कम नहीं हूँ। कोई एक दिन निश्चय हो, जब सब कोई अपनी-अपनी योग्यता का परिचय दें।

फलतः सबकी राय से एक तिथि निश्चित की गई, और इसकी सूचना शहर-भर में डुगडुगी पिटवा कर दी गई।

वह दिन भी शीघ्र ही आ पहुँचा। राजकुमारों का तमाशा देखने के लिए लोग इकट्ठा होने लगे। राजकुमार अपने-अपने बल और योग्यता का परिचय देने लगे। कई राजकुमारों ने केश-जैसी बारीक चीज को भी अपने बाणों से काट डाला। देवदत्त बाण चलाने में सबसे होशियार समझा जाता था, और नन्द बहुत सफाई के साथ तलवार चला सकता था। परन्तु जब सिद्धार्थ की बारी आई, तो उनका ही नम्बर सब खेलों में पहला रहा।

जहाँ खेल हो रहे थे, उसके पास ही एक मन्दिर था, जिसमें एक बहुत भारी धनुष रखा हुआ था। वह सिद्धार्थ के पितामह सिंहहनु के समय का था। वह परीक्षा के लिए लाया गया था। जब चाप (डोरी) चढ़ाने के लिए कहा गया, तो केवल सिद्धार्थ ही इस कार्य में सफल हुए। इतना ही नहीं, उन्होंने उस पर बाण भी रखा और उसको इतना खींचकर फेका कि वह कितनी दूर गया—किसी को पता भी न लग सका। सिद्धार्थ की वीरता देखकर सब प्रसन्न हुए।

राजकुमार ने अपने गुण और योग्यता का परिचय दे दिया। अब शाक्यवंश वालों को शिकायत करने का मौका नहीं रहा। उन लोगों को यह निश्चय हो गया कि राजकुमार सब प्रकार से योग्य हैं। सब कहने लगे कि सिद्धार्थ अपने वंश की मर्यादा की रक्षा करने वाला होगा।

गृह-त्याग

सिद्धार्थ का विवाह यशोधरा के साथ हो चुका है। राजकुमार ने प्रतिद्वन्द्विता में विजय पाई, और शाक्यवंश के राजघराने वाले उनकी प्रशंसा करने लगे। यह सब काम उन्नीस वर्ष की अवस्था तक में हुए।

इसके बाद दस वर्ष तक सिद्धार्थ ने अपना जीवन सुख और ऐश्वर्य के भोगने में बिताया। कारण, उनकी परिस्थिति ही ऐसी बनाई गई थी। यह उनके पिता की चालाकी थी, ताकि राजकुमार के मन में विरक्त होने का विचार ही न उठ सके।

ज्योतिषियों ने राजा से दो बातें और भी कही थीं। पहली बात यह कि सिद्धार्थ लगभग पचीस वर्ष में संन्यासी हो जायगा—यदि संन्यासी होना लिखा होगा तो। और, दूसरी बात यह कि राजकुमार को चार प्रकार के दृश्य देखकर विराग उत्पन्न होगा।

सिद्धार्थ का पचीसवाँ वर्ष बीत गया था, इस लिए राजा शुद्धोदन बहुत हर्षित थे कि अब राजकुमार चक्रवर्त्ती राजा होगा।

किन्तु जब से राजकुमार ने अपने जीवन के बीसवें वर्ष में पदार्पण किया, तभी से उनकी मनोवृत्ति में एक परिवर्त्तन आरम्भ हुआ। अब वह सारा समय गाने-बजाने में नहीं लगाते थे। कभी-कभी एकान्त में जाकर बैठते और सोचते कि संसार के सब लोग क्या मेरे ही जैसे सुखी हैं—क्या सबके पास इतना धन है कि घर बैठे ही सब इच्छायें पूर्ण हो जायँ—क्या यह मेरा कर्त्तव्य नहीं है कि मैं दूसरों को भी अपने समान ही सुखी बनाने का उद्योग करूँ?

इसी प्रकार के अनेक विचार उनके मन में उठने लगे, जिनको—सुख-ऐश्वर्य के साधन सन्मुख रहने पर भी—वह नहीं रोक सकते थे। धीरे-धीरे उनके मन में यह धारणा हो गई कि मैं संसार में कोई विशेष कार्य करने के लिए उत्पन्न हुआ हूँ।

बाल्यकाल से ही राजकुमार में दया का अंश अधिक था। मनुष्य की तो बात ही क्या, पशु-पक्षी तक को वह दया की दृष्टि से देखते थे। परन्तु अब तक उन्हें यथार्थ सांसारिक कष्ट का अनुभव नहीं हुआ था। इसका प्रधान कारण यह था कि राजा शुद्धोदन बहुत सावधान पुरुष थे—ऐसा कोई अवसर ही नहीं उपस्थित होने देते थे, जिसको देखकर राजकुमार का मन दुःखी हो। राजकुमार नहीं जानते थे कि दुःख क्या है, रोग क्या है, मृत्यु क्या है।

इसके बाद सिद्धार्थ टहलने के लिए बाहर जाने लगे; परन्तु राजा की यह कड़ी आज्ञा थी कि कोई भी मनुष्य, जो

बीमार हो, अन्धा हो, अथवा किसी प्रकार से अंग-भंगो हो, राजकुमार के सामने न आवे। पर जब राजकुमार बराबर टहलने के लिए निकलने लगे, तो राजा की आज्ञा का पालन होना असम्भव-सा हो गया।

राजमहल से थोड़ी दूर पर एक बगीचा था, जिसमें टहलने के लिए राजकुमार रथ पर चढ़कर कभी-कभी जाया करते थे। उसमें एक तालाब था, जिसमें कमल के फूल फूलते थे, और जिसके चारों ओर अनेक प्रकार के फूलों के पेड़ भी लगे हुए थे। कभी-कभी वह संध्या समय अधिक गर्मी मालूम होने पर स्नान भी कर लिया करते थे।

एक दिन उन्होंने रथ हाँकने वाले को, जिसका नाम 'चन्दा' था, रथ लाने के लिए कहा। उसने एक अत्यन्त सुन्दर रथ, जिसमें चार घोड़े—दूध के सदृश उजले—जुते थे, और जिसमें अनेक प्रकार के रत्न भी जड़े हुए थे, राजकुमार के सामने लाकर उपस्थित किया। घोड़ों के ऊपर से एक-एक झूल दे दिया गया था, जिसमें सोने के जड़ाऊ काम किये हुए थे।

जब सिद्धार्थ सजधजकर बाहर निकले, तो लोग उन्हें देखकर बहुत प्रसन्न हुए। लोगों के प्रसन्न होने का एक विशेष कारण यह था कि लोगों को उनकी सुन्दरता और शील-स्वभाव का परिचय पहले ही मिल चुका था। स्वयं वह भी सब लोगों को आनन्दित देखकर बड़े खुश हुए।

रथ आगे बढ़ा। रथ के सामने सड़क के ठीक बीच में एक बूढ़ा आदमी देख पड़ा। वह अत्यन्त निबल था। उसके

हाथ में एक लाठी थी, तो भी वह बहुत कठिनता से खड़ा हो सकता था। सिर के बाल पक गये थे, आँखें भीतर धँस गई थीं, शरीर में केवल हड्डियाँ रह गई थीं। बेचारा भीख माँग रहा था।

सिद्धार्थ ने आज तक ऐसा करुणाजनक दृश्य नहीं देखा था। इस बूढ़े को देखकर राजकुमार ने 'चन्दा' से पूछा—यह मनुष्य दूसरे मनुष्य से भिन्न क्यों है? किसने इस मनुष्य में ऐसा घोर परिवर्त्तन कर दिया है कि इसके बाल भी दूसरे रंग के हो गये हैं? अथवा, क्या यह जन्म से ही ऐसा है?

चन्दा ने हाथ जोड़कर उत्तर दिया—राजकुमार! यह मनुष्य वर्षों तक इस संसार में रहा है। अब यह बुड्ढा देख पड़ता है। पहले यह आपके समान ही नौजवान था। जब लोग बूढ़े हो जाते हैं, तो सबकी दशा ऐसी ही हो जाती है।

यह सुनकर सिद्धार्थ बोले—रथ लौटाओ, मैं आज बगीचे में नहीं जाऊँगा।

इतना कहकर राजकुमार मौन हो गये। मालूम हुआ, वह कुछ सोच रहे हैं। रथ राजमहल की ओर लौट पड़ा। राजकुमार उस दृश्य को न भूल सके। बार-बार उस बूढ़े असहाय मनुष्य का रूप उनकी आँखों के सामने नाच उठता था।

जब लौटकर वह घर पहुँचे, तो राजा शुद्धोदन ने रथ हाँकने वाले से पूछा—क्या कारण है कि आज राजकुमार इतनी जल्दी लौट आये?

चन्दा ने बहुत नम्रता से उत्तर दिया—महाराज, आज

रास्ते में राजकुमार ने एक वृद्ध मनुष्य को देखा था। उसी को देखकर उन्होंने रथ लौटाने की आज्ञा दी।

राजा शुद्धोदन सारथी की बात सुनकर बहुत चिन्तित हुए। ज्योतिषियों की बात याद आई—आज पहला अपशकुन हुआ। राजा ने नर्त्तकियों को खूब गाने-बजाने की आज्ञा दी। नगर के चारो फाटक पर सख्त पहरा बिठाया गया, ताकि राजकुमार शहर के बाहर न जाने पावें।

धीरे-धीरे उस बूढ़े मनुष्य का दृश्य मन से हटने लगा। जब वह बात एकदम भूल गई, तब राजकुमार ने चन्दा से कहा—रथ ले आओ, मैं आज टहलने चलूँगा।

रथ आ गया। राजकुमार रथ पर चढ़कर थोड़ी ही दूर गये थे कि उन्होंने एक मनुष्य को सड़क के किनारे देखा। वह रोगी मालूम पड़ता था। उसका शरीर फूल गया था, रंग पीला पड़ गया था, जोर-जोर से कराह रहा था। उठना चाहता था, पर निर्बलता के कारण उठकर खड़ा नहीं हो सकता था; इसलिए सड़क पर ही लेट गया था।

राजकुमार रथ से उतर पड़े—उस रोगी को सहायता पहुँचाने के लिए उसके पास पहुँच गये। चन्दा से बोले—चन्दा, इसको क्या हो गया है कि यह उठ नहीं सकता? इसके शरीर का बल कहाँ चला गया है? यह इतना दुःखी क्यों है?

चन्दा ने उत्तर दिया—सरकार, यह रोगी है। यह कोई नहीं कह सकता कि मैं बीमार नहीं होऊँगा। इससे भी अधिक कष्ट देने वाली बीमारी संसार में है।

आज भी राजकुमार पहले की भाँति लौट पड़े। सोचा—जब संसार में हमें बीमार होने की आशंका लगी हुई है, तो ऐश-आराम करना एकदम बेकार है। सबसे पहले इन बीमारियों से बचने का उपाय ढूँढ़ निकालना चाहिये।

फिर रथ पर सवार होकर राजकुमार घूमने के लिए निकले। इस बार उन्होंने देखा कि बहुत-से लोग एक मनुष्य की देह को कपड़े में लपेट कर अपने कन्धे पर उठाये लिये जा रहे हैं। मनुष्य की वह देह हिलती-डुलती नहीं है। मालूम होता है, उसमें जान ही नहीं है। लोगों के पीछे-पीछे कई और स्त्री-पुरुष छाती पीटते रोते जा रहे हैं।

सिद्धार्थ ने ऐसा दृश्य कभी नहीं देखा था। उन्होंने सारथी से पूछा—ये क्या कर रहे हैं? यह कैसा दृश्य है? जिस चीज को लोग कन्धे पर ले जा रहे हैं, वह क्या है?

चन्दा ने उत्तर दिया—स्वामिन्! जब शरीर से प्राण निकल जाते हैं, तो सब मनुष्यों की दशा ऐसी ही हो जाती है। इसको 'मृत्यु' कहते हैं।

राजकुमार आगे नहीं बढ़े। लौटकर घर चले आये। बहुत उदास हो गये। घोर चिन्ता में मग्न हो गये। उन्हें मालूम होने लगा कि संसार सौंदर्यहीन है। इसकी सारी शान-शौकत एक-न-एक दिन धूल में मिलने वाली है। इसका सारा सुख-सौभाग्य स्वप्न के समान है, जो अधिक समय तक मनुष्य के साथ नहीं ठहर सकता—देखते-ही-देखते नजर से गायब हो जाता है—क्षणिक है, निस्सार है।

राजा शुद्धोदन को इसका पता लगा कि राजकुमार अब अधिक चिन्तित रहा करते हैं। यह जानकर वह हताश हो गये। उनकी आशंका बढ़ने और यह धारणा दृढ़ होने लगी कि राजकुमार की मनोवृत्ति में परिवर्त्तन हो रहा है। सोचने लगे—मेरा सब प्रयत्न विफल हो रहा है। राजकुमार तीन दृश्य देख चुके, अब केवल एक दृश्य बाकी है। चौथा दृश्य देखकर क्या वह घर छोड़ देंगे ? तो फिर ऐसा यत्न क्यों न किया जाय कि वह अन्तिम दृश्य देख ही न सकें।

राजा को अब भय होने लगा कि राजकुमार के घर छोड़ने का समय समीप आ रहा है। इसलिए उन्होंने स्थान-स्थान पर कड़े पहरे बिठा दिये। स्वयं पूरब-ओर के फाटक के पास वाले महल में सतर्क होकर रहने लगे। शेष तीन फाटकों के पास उनके तीन भाई तैनात हुए। उनका एक 'महानाम' नामक भतीजा शहर के बीच में सैनिकों का एक दल लेकर डट गया—वह रात-भर पहरा देता रहता था।

दूसरे दिन फिर राजकुमार चन्दा के साथ टहलने के लिए निकले। रास्ते में उन्होंने देखा कि एक विचित्र मनुष्य खड़ा है। वैसा मनुष्य उन्होंने कभी नहीं देखा था। उसके सिर के बाल कटे हुए थे—वस्त्र गेरुआ रंग का था—हाथ में एक खप्पर, जिसको लेकर वह भीख माँगता था। यद्यपि वह दरिद्र अवश्य देख पड़ता था; परन्तु फिर भी सुखी मालूम होता था—शान्त और प्रसन्न-चित्त था।

संन्यासी को देखकर सिद्धार्थ आश्चर्य में पड़ गये। उन्हों

ने सदा की भाँति चंदा से उसका परिचय पूछा। वह सदा ईश्वर की प्रेरणा से ही उत्तर दिया करता था। बोला—यह साधु-पुरुष और धर्मात्मा है। इसने संसार को त्याग दिया है, धन-सम्पत्ति छोड़ दी है। इसी लिए भोजन के निमित्त द्वार-द्वार घूमता फिरता है।

सिद्धार्थ उस संन्यासी के पास गये। उससे वार्त्तालाप करने लगे। इससे उनकी शंकायें दूर हो गईं। उनको अपना कर्त्तव्य-मार्ग साफ सूझ पड़ने लगा। मन-ही-मन सोचने लगे—मैं भी वैसा ही करूँगा, जैसा इस संन्यासी ने किया है। मैं भी सब कुछ—राज्य, माता, पिता, स्त्री, राज-महल—छोड़-कर गृहत्यागी होऊँगा। ऐसा करने से मुझे शान्ति मिलेगी। तब मैं ज्ञान प्राप्त करूँगा, और संसार को इन कष्टों से छुटकारा पाने का उपदेश दूँगा।

यह निश्चय कर राजकुमार टहलने के लिए फुलवाड़ी में गये। आज उन्हें कुछ आराम मालूम पड़ने लगा। फुलवाड़ी में आकर आज उन्हें पहले-ही-पहल प्रकृति की सुन्दरता यथार्थ रूप में दिखलाई पड़ने लगी। सन्ध्या समय तालाब में स्नान किया। स्नान कर चुकने पर कपड़े बदले और इत्र लगाये। कपड़े चित्र-विचित्र रंग के थे। उनमें मोती और जवाहिर लगे हुए थे। पगड़ी में कितने ही बहुमूल्य हीरे जड़े हुए थे। कहने लगे, यह अन्तिम बार मैं राजसी पोशाक पहन रहा हूँ।

ज्योंही राजकुमार रथ पर सवार होकर घर की ओर चले, एक दूत ने आकर समाचार दिया कि राजकुमार को एक

पुत्र-रत्न प्राप्त हुआ है। वह सोचने लगे—यह एक नवीन बन्धन है। इसको तोड़ना सहज काम नहीं है। यह कर्त्तव्य-मार्ग का बाधक है। यह पुत्र नहीं, राहु है, ग्रह है, शत्रु है।

राजा शुद्धोदन को यह खबर मिल गई कि राजकुमार अपने पुत्र को राहु समझते हैं। उन्होंने अपने पौत्र का नाम 'राहुल' रखा।

जब राजकुमार लौटकर नगर में आये, तो देखा कि जन्मोपलक्ष में नगर में उत्सव मनाया जा रहा है। लोग उनके रथ के पीछे-पीछे हो लिये। उनकी मुखाकृति और दिव्य कान्ति देखकर लोग अवाक् थे। उनकी एक चचेरी बहन अपने महल से ही उनको देखकर शुभ गीत गाकर स्वागत करने लगी। उस गीत का तात्पर्य यह था कि उस नवजात शिशु के पिता, माता और सम्बन्धिगण बहुत भाग्यवान हैं।

सिद्धार्थ ने सोचा—भाग्यवान तो वह है, जिसे किसी प्रकार का मानसिक कष्ट नहीं है, जो सदा शान्त और चिन्ता-रहित है। फिर भी उन्होंने एक मनोहर हार अपनी बहन को उस गीत के लिए भेज दिया।

उस रात में खूब उत्सव मनाया गया। नाच-घर में नाच होने लगा। समयोपयोगी गीत गाये गये। मन को मोहित करने वाली नर्तकियों का नाच हुआ। आनन्दमय राज-भवन को देखकर लोगों को इन्द्र-भवन याद आ जाता था। परन्तु राजकुमार सीधे शयन-गृह में जाकर चुपचाप सो रहे। सब लोग राजकुमार को बाट देख रहे थे कि वह भी नाच-घर

में आवेंगे। जब लोग राह देखते-देखते थक गये, तो अन्त में वे भी सो रहे।

ठीक आधी रात को सिद्धार्थ जागे। उठकर कोठरी के द्वार पर गये और धीरे-धीरे पुकारने लगे—चन्दा, चन्दा, उठो।

चन्दा बाहर सो रहा था। उठकर राजकुमार के सामने आया। बोला—सरकार, क्या आज्ञा होती है।

राजकुमार ने कहा—जाओ, जल्दी जाओ, मेरे लिए एक घोड़ा ले आओ।

चन्दा घोड़ा लेने के लिए बाहर चला गया। सिद्धार्थ की यह इच्छा हुई कि घर छोडने के पूर्व मैं अपने लड़के को एक बार प्यार कर लूँ। इसलिए वह यशोधरा के शयन-मंदिर के द्वार पर जाकर झाँकने लगे। देखा, यशोधरा पुष्प-शय्या पर सो रही है—चमेली के सुकुमार फूल बिखरे हुए हैं। वह अपना एक हाथ नव-जात शिशु के मस्तक पर रखकर सोई हुई है। सोचने लगे—यदि मैं इसके हाथ को हटाने की चेष्टा करता हूँ, तो जाग जायगी; फिर मुझे जाने न देगी।

यह विचारकर सिद्धार्थ ने उसको स्पर्श नहीं किया। वह उन दोनों को ध्यान से देखते रहे। कुछ देर के बाद वह लौट कर चले आये। तब तक चन्दा घोड़ा लेकर राज-महल में पहुँच गया। यह घोड़ा राजकुमार को बहुत प्रिय था। बाल्यकाल से ही वह इसको प्यार करते आ रहे थे। इसका नाम 'कंटक' था।

शरद् के पूर्ण चन्द्रमा आकाश में शोभा पा रहे थे। सारा संसार स्वच्छ चाँदनी में धुलकर उज्ज्वल देख पड़ता था, मानों हिमालय का शुभ्र हिम सब पदार्थों को ढक रहा है। चारों तरफ सन्नाटा छा गया था। केवल नदी के तट पर मेढक बोल रहे थे।

राजकुमार फाँदकर कंटक पर सवार हो गये। चन्दा ने घोड़े की दुम पकड़ ली। कंटक चला। राजमहल से बाहर निकलकर वे नगर में पहुँचे। फिर शहर की सड़कों और गलियों को पार करते हुए नगर के फाटक पर पहुँचे। किसी ने कंटक के पैर की आहट नहीं सुनी। देवताओं ने सड़कों पर फूल की बर्षा कर दी थी, ताकि सिद्धार्थ के जाने का समाचार किसी को ज्ञात न हो। किसी ने नहीं जाना कि राजकुमार सिद्धार्थ घर छोड़कर संन्यासी होने जा रहे हैं। ❀

नगर के फाटक पर पहुँचने के पूर्व ही राजकुमार को एक काली छाया मिली। यह 'मार' था, जो मनुष्य को सदा कर्त्तव्य-पथ से भ्रष्ट करने के लिए उद्यत रहता है। उसने चाहा कि मैं सिद्धार्थ को—भविष्य के 'बुद्ध' को—गृहत्यागी न होने दूँ। उसने सिद्धार्थ से कहा—राजकुमार, ठहरो, कहाँ जा रहे हो? आगे मत बढ़ो। तुम्हारे मन की अभिलाषा सात दिनों के भीतर ही पूर्ण हो जायगी। समस्त संसार का राज्य तुमको मिल जायगा। चक्रवर्ती होकर राज्य भोगो।

❀ बुद्ध के गृह-त्याग का वर्णन 'बुद्धचरितम्' नाम की संस्कृत-पुस्तक में बहुत ही उत्तम रीति से किया गया है।

सिद्धार्थ ने उत्तर दिया—मैं यह अच्छी तरह जानता हूँ कि मैं यदि चक्रवर्त्ती राजा होने की आकांक्षा करूँ, तो अनायास हो सकता हूँ; परन्तु मैं चाहता ही नहीं। मैं 'बुद्ध' होने का प्रयत्न करूँगा, और बुद्ध होकर ही संसार को सुखी बनाऊँगा।

'मार' की एक भी न चली। परन्तु, तो भी वह सिद्धार्थ के पीछे हो लिया—यह सोचकर कि सिद्धार्थ को यदि किसी अवसर पर क्रोध हुआ, अथवा कोई भी बुरा विचार उत्पन्न हुआ, तो झट मैं इन्हें अपने वश में कर लूँगा।

जब सिद्धार्थ फाटक पर पहुँचे, तो वह आप-से-आप खुल गया। फाटक इतना भारी और विशाल था कि उसके खोलने के लिए कितने ही हाथियों की आवश्यकता होती थी। परन्तु देवता-गण सिद्धार्थ की—भावी 'बुद्ध' की—सहायता कर रहे थे। इस कारण कठिन-से-कठिन कार्य भी पल में हो जाता था। फाटक के रक्षक-गण बेहोश सो रहे थे। उनको इसकी खबर भी नहीं मिली कि सिद्धार्थ कब आये और कैसे फाटक खुल गया।

सिद्धार्थ और चन्दा—दोनों ही—फाटक पारकर शहर से बाहर निकल आये। उस रात में वे बहुत दूर तक चले आये थे। जब प्रातःकाल हुआ—आकाश में लाली छा गई, तब दोनों 'अणुमा'-नदी के तट पर पहुँच गये, जो 'कलिनगर' के सामने ही थी। वहाँ राजकुमार घोड़े से उतर पड़े। राजसी पोशाक उतार डाले। सब आभूषण भी चन्दा को

दे दिये। फिर उससे घर जाने को कहा। उसने उनके साथ रहकर उनकी सेवा करने की इच्छा प्रगट करते हुए बहुत प्रार्थना की; पर उन्होंने एक न सुनी।

चन्दा को कंटक के साथ कपिलवस्तु लौट जाना पड़ा। उसके चलते समय सिद्धार्थ ने कहा—चन्दा, जाओ, मेरे पूज्य माता-पिता और मेरे परिवार को यह समाचार सुना देना।

इसके बाद सिद्धार्थ ने तलवार निकाली और अपने केश को काट डाला। उसी समय एक भिक्षुक उस रास्ते से जा रहा था। उन्होंने अपनी राजसी पोशाक उसे दे दी और उसके फटे-पुराने कपड़े स्वयं पहन लिये।

इस प्रकार सिद्धार्थ ने अपना घर, अपना परिवार, अपना सर्वस्व, सदा के लिए त्याग दिया।

चन्दा रोता-पीटता वहाँ से बिदा हुआ। राजकुमार का संन्यासी-वेश देखकर उसकी छाती टुकड़े-टुकड़े होने लगी।

सत्य की खोज

आज सिद्धार्थ अपनी ही इच्छा से भिखारी बने हुए हैं। जिसके पास हजारों दास-दासी मौजूद रहते थे, आज उसके पास बात पूछने वाला भी कोई नहीं रह गया। जो गद्दे पर सोता था, उसके पास एक बिछावन भी नहीं है! जिसके भोजन के लिए उत्तमोत्तम पदार्थ सवेरे तैयार रहते थे, उसके खाने का भी कोई ठौर-ठिकाना नहीं है! जो सोने-चाँदी के बर्तनों में खाता था, वह पत्तों पर खा रहा है!

सिद्धार्थ ने शाक्य-देश के समीप रहना उचित नहीं समझा; इसलिए गंगा-नदी को पार किया। आगे जाकर वह राजगृह में पहुँचे, जो उस समय मगध की राजधानी था।

जब कोई फकीर हो जाता है, तो उसके पास एक खप्पर रहता है, जिसमें वह भोजन करता और पानी पीता है—वह साधारणतः एक प्रकार के कद्दू का गूदा निकाल कर बनाया जाता है; परन्तु सिद्धार्थ उसे कहाँ खोजने जाते। उन्होंने पत्तों का एक बड़ा 'दोना' बना लिया। उसी से खप्पर का काम लेने लगे।

सिद्धार्थ प्रातःकाल राजगृह में पहुँचे थे। दिन-भर नगर में घूमते रहे। जब भोजन करने का समय हुआ, तो केवल पेट भरने के लायक कुछ माँगकर अपने खप्पर में रख लिया।

मगध के राजा बिम्बसार अपनी ऊँची अटारी पर चढ़कर चारों ओर के दृश्य देख रहे थे। उन्होंने एक विचित्र व्यक्ति को—सिद्धार्थ को—देखा। देखकर अपने दरबारियों से कहा—जाकर देखो कि वह भिक्षुक कहाँ जाकर ठहरता है।

जब सिद्धार्थ ने खाने-भर जमा कर लिया, तो नगर के फाटक होकर बाहर निकले। एक चट्टान पर जाकर बैठ गये और भोजन करने लगे। परन्तु ज्योंही भोजन की सामग्री पर दृष्टि पड़ी कि हाथ रुक गया। उन्होंने जन्म-भर में कभी ऐसा रूखा भोजन नहीं किया था। सदा स्वादिष्ट और सुकोमल भोजन करने का अभ्यास था। तुरत सँभल गये। सोचने लगे, अपने-आपको समझाने लगे—सिद्धार्थ, यह ठीक है कि तुमने

कभी ऐसा रूखा भोजन नहीं किया, तुम सदा सुस्वादु और उत्तमोत्तम पदार्थ ही भोजन करते रहे; परन्तु तुमने तो जान-बूझकर ही उन पदार्थों को छोड़ दिया है । भला, ऐसी दशा में यह कौन-सी बुद्धिमत्ता की बात होगी कि तुम इस भोजन को छोड़ दो और राजसी भोजन के लिए लालायित हो ।

इस प्रकार मन को खूब समझा-बुझाकर उन्होंने किसी-किसी तरह थोड़ा-बहुत भोजन कर लिया ।

विम्बसार सिद्धार्थ की तेजस्वी मुखाकृति को देखकर पहले ही मुग्ध हो चुके थे । जब राज–दरबारियों ने आकर उनके निवास–स्थान का पता बतलाया, तो विम्बसार अपने कर्मचारियों और दरबारियों को साथ लेकर उनसे भेंट करने के लिए चले ।

वहाँ पहुँचकर दोनो में बातचीत हुई । विम्बसार सिद्धार्थ के स्वभाव, आचरण और वार्त्तालाप से इतने प्रसन्न हुए कि सिद्धार्थ को मुँहमाँगा धन–सर्वस्व देने को प्रस्तुत हो गये। परन्तु सिद्धार्थ ने नम्रता-पूर्वक उत्तर दिया—राजन्, मुझे आप क्षमा करें । मैं हिमालय के समीप के एक धनाढ्य देश से आ रहा हूँ । मैं शाक्यवंश का हूँ, राज-घराने का हूँ । मेरा यह अनुभव है कि धन-सम्पत्ति से शान्ति नहीं मिल सकती, दुःख नहीं दूर हो सकते । मैं तो ऐसी वस्तु की खोज में हूँ, जिससे मनुष्य को ज्ञान प्राप्त होता है ।

तब राजा विम्बसार ने कहा—कृपाकर आप प्रतिज्ञा करें कि जब वह पदार्थ आपको मिल जाय, तो उसका उपदेश यहाँ आकर मुझे भी देंगे ।

सिद्धार्थ ने बिम्बसार की बात मान ली, और फिर लौट कर आने का वचन दिया।

राजगृह के चारो तरफ पाँच पहाड़ थे। देखने से मालूम होता था कि ये पहाड़ दीवार का काम कर रहे हों। यहाँ की जमीन उपजाऊ थी। यहाँ से दो मील पूरब गृद्ध-शिखर नामक पहाड़ की चोटी पर कई-एक खोह थे, जिनमें बहुत-से साधु-संन्यासी रहा करते थे। यह स्थान बहुत एकान्त में था। इस हेतु गौतम को यह अत्यन्त प्रिय मालूम हुआ। यहाँ से नगर भी समीप ही था। खाने-पीने की चीजें इच्छानुसार मिल सकती थीं। यहाँ गौतम के रहने योग्य स्थान भी मिल गया। इसलिए वह यहाँ थोड़े समय तक ठहर गये। उन्होंने सोचा कि व्यर्थ भ्रमण करते रहने की अपेक्षा किसी एक स्थान में रहकर सत्य का अनुसन्धान करना श्रेयस्कर है।

गौतम का जन्म हिन्दू-वंश में हुआ था। परन्तु उन्हें प्रचलित हिन्दू-सिद्धान्त, जिसमें कर्मकांड का प्राधान्य था, जिसमें यज्ञ-हवन आदि अधिक हुआ करते थे, सन्तोषजनक नहीं मालूम हुआ। उन्हें यह अनुभव हुआ कि सत्य मुझसे बहुत दूर है। वह उस रत्न के समान है, जो पृथ्वी में बहुत नीचे अन्धकार में मिट्टी से ढका रहता है, और जिसका मिलना बिना अधिक परिश्रम के कठिन है। उसकी खोज में गौतम जी-जान से लग पड़े। उन्होंने अपनी सारी शक्ति और बुद्धि इसी कार्य में लगा दी।

यहाँ यह न समझना चाहिये कि केवल गौतम ही इस प्रकार

सत्य का अनुसंधान कर रहे थे। इनके सदृश कितने ही योगी जीवन और मरण के रहस्य को जानने के लिए कठिन प्रयत्न कर रहे थे। उनमें एक योगी बहुत विख्यात थे, जिनका नाम 'अलार्क' था, और जिनकी शिष्यता आरम्भ में गौतम ने स्वीकार की थी। वह बहुत बुद्धिमान योगी थे। जब उनसे गौतम सब-कुछ सीख चुके—जो वह बता सकते थे, तब उन्हें मालूम हुआ कि मैं सत्य के मार्ग में एक पग भी नहीं बढ़ सका हूँ।

इसके अनन्तर वह 'उद्क मुनि' के पास पहुँचे। परन्तु यहाँ भी वह बहुत समय तक नहीं ठहर सके। योगाभ्यास से मुक्ति नहीं मिलेगी, यही उनकी धारणा हो गई।

इसके बाद गौतम ने विचारा कि व्रत और तपस्या से कुछ लाभ हो सकता है। इसलिए वह कठिन तपस्या करने में अपना समय व्यतीत करने लगे। हिन्दुओं का व्रत-नियमादि में अधिक विश्वास होता है। इसलिए शान्ति पाने के निमित्त राजगृह से दक्षिण की ओर चल पड़े। वहाँ पर 'उसबेला' नामक एक घोर जंगल था, जो वर्त्तमान बुद्ध-गया के मंदिर के समीप में ही था। उस निर्जन स्थान में रहकर वह ध्यान और तपस्या करने लगे।

उस वन में अनेक हिंसक जन्तु—बाघ-सिंह आदि रहते थे। ढूँढ़ने से भी कहीं रास्ता नहीं मिल सकता था। योगी-मुनि के अतिरिक्त कोई दूसरा मनुष्य वहाँ नहीं आता था। यदि भूल से कोई आ जाता, तो उसके प्राण की रक्षा होना कठिन था। परन्तु योगी लोग निर्विघ्न होकर अपनी साधना

में—तपस्या करने में—लगे हुए थे। किसी ओर हाथी चिंघाड़ मारता था, कहीं से बाघों की गुर्राहट आती थी, कहीं पर चीते चित्कार कर रहे थे। रात के समय तो वन और भी भयंकर हो जाता था। किसी को साहस नहीं हो सकता था कि वह सूरज डूबने के बाद उसमें जाय।

ऐसे-ऐसे जंगल अब भी वर्त्तमान हैं, और इस समय तक योगी और ऋषि तपस्या करने के लिए घने जंगलों में चले जाते हैं। लोग कहते हैं कि बाघ-सिंह इनके पास कुत्ते-बिल्ली के समान पालतू हो जाते हैं। क्या यह बात असम्भव है?

इस प्रकार 'उरुबेला' में गौतम तपस्या करने लगे। वहाँ उन्हें पाँच साधुओं से भेंट हुई। वे गौतम की साधुता और पवित्रता देखकर मुग्ध हो गये। इन्हीं के साथ रहने लगे। फिर कुछ दिन बाद इनके शिष्य हो गये। ये बहुत दिनों तक उपवास कर सकते थे। इनके कठिन व्रत को देखकर वे कहने लगे कि इन्हें ईश्वर अवश्य मिलेंगे और इनको मोक्ष तथा ज्ञान भी प्राप्त होंगे।

गौतम के नवीन शिष्य उनके साथ ही रहे। वे इस आशा में थे कि गौतम इसकी सूचना देंगे कि मुझे ज्ञान प्राप्त हो गया। परन्तु अपने भर-सक प्रयत्न करने पर भी गौतम को वह पदार्थ नहीं मिल सका, जिसकी खोज वह वर्षों से कर रहे थे। तपस्या करते-करते उनका शरीर सूखकर काँटा हो गया था! कोई भी मनुष्य उन्हें देखकर यह नहीं कह सकता था कि यह वही राजकुमार सिद्धार्थ हैं। परन्तु उनका यश धीरे-धीरे फैलने लगा।

सिद्धार्थ के गृह-त्याग से राजा शुद्धोदन की क्या अवस्था हुई होगी, यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है। इकलौता बेटा कितना प्यारा होता है! साथ ही, अपनी पुत्र-बधू—यशोधरा—की विकलता और अपनी स्त्री 'प्रजापति' का शोक देखकर उनका चित्त और भी विह्वल हो जाता था। जब उनका प्रिय पौत्र 'राहुल' सामने लाया जाता था, तो उनकी आँखों से आँसू की धारा बह चलती थी। वह दिन-दिन खिन्न होने लगे। सिद्धार्थ का पता लगाने के लिए चारो ओर दूतों को भेजने लगे। जब एक दूत ने आकर कहा कि सिद्धार्थ व्रत और उपवास करते-करते सूख गये हैं, पहचाने तक नहीं जा सकते, तो वह फूट-फूटकर रोने लगे।

जब यह समाचार यशोधरा को—सिद्धार्थ की स्त्री को—मालूम हुआ, तो वह बेहोश हो गई। जब से सिद्धार्थ ने घर छोड़ा, वह बराबर शोक और चिन्ता में डूबी रही। उसने आरम्भ में खाना-पीना छोड़ दिया था। सुन्दर वस्त्रों को अपने हाथ से नहीं उठाती थी। गहनों को उतारकर बक्सों में बन्द कर दिया। पलँग पर सोना छोड़ दिया। केवल एक बार भोजन करने लगी। सिद्धार्थ के वियोग में पागल-सी हो गई।

उपवास करते-करते गौतम थक गये; पर उन्हें वह चीज नहीं मिली, जिसकी खोज में वह हैरान थे। छठे वर्ष के अन्त में उन्हें इसका पता चला कि इतना परिश्रम करने पर भी मैं सत्य के मार्ग में एक गज भी आगे नहीं बढ़ सका हूँ। व्रत

करते-करते वह अत्यन्त निर्बल हो गये थे। एक दिन, जब वह जंगल में घूम रहे थे, एकाएक पृथ्वी पर गिरकर बेहोश हो गये। लोग कहने लगे, गौतम की मृत्यु हो गई।

यह समाचार राजा शुद्धोदन को मिला। परन्तु उन्होंने कहा कि जब तक सिद्धार्थ का ज्ञान प्राप्त न हो जायगा—वह 'बुद्ध' नहीं हो जायँगे, तब तक वह मर नहीं सकते।

कुछ काल के उपरान्त गौतम को होश हुआ। पूर्ण रीति से चैतन्य लाभ कर उन्होंने विचारा कि उपवास करने से कुछ भी लाभ होता नहीं दीखता। इससे ज्ञान की वृद्धि नहीं होती है।

ऐसा सोचकर धीरे-धीरे वह भोजन करने लगे। जिस प्रकार साधारण मनुष्य भोजन किया करते हैं, वह भी उसी प्रकार खाने-पीने लगे। उनके पाँच शिष्यों ने देखा कि वह साधारण मनुष्य के समान भोजन करने लग गये हैं। तब वे आपस में कहने लगे कि इन्हें ईश्वर नहीं मिल सकते।

यह कहकर उन लोगों ने उनको छोड़ दिया, और वहाँ से काशी की ओर चल पड़े।

अब गौतम अकेले रह गये। परन्तु उन्होंने साहस नहीं छोड़ा। महान् पुरुष कभी अपने उद्देश्य से पीछे नहीं हटते। असफलता उन्हें निरुत्साह नहीं करती। असफल होने पर वे हाथ-पर-हाथ रखकर बैठ नहीं जाते। वर्षों तक विफल होते रहने पर भी नवीन उत्साह के साथ एक बार फिर कार्य में अवश्य लग जाते हैं। वे तो नीच और कायर पुरुष हैं, जो

दो-एक बार की विफलता से घबड़ाकर कार्य्य छोड़ बैठ जाते हैं। जिनकी आत्मा यथार्थ में महान् है, वे अपने उद्देश्य पर जन्म-भर डटे रहते हैं, और अन्त में अपना अभीष्ट सिद्ध कर ही छोड़ते हैं।

ज्ञान-प्राप्ति

'उसबेल'-जंगल के किनारे एक छोटा गाँव था, जिसे 'सेनानी' कहते थे। वह गाँव 'निरंजना'-नदी के तट पर अत्यन्त रमणीक स्थान में था, जहाँ शाल-वृक्ष बहुत उपजे हुए थे। उस गाँव के 'प्रधान' को 'सुजाता' नाम की एक लड़की थी। दूसरी-दूसरी लड़कियों की तरह वह भी प्रतिदिन एक पीपल के वृक्ष की जड़ में जल ढालती थी। उसका विश्वास था कि ऐसा करने से उसे उत्तम पति मिलेगा, और प्रथम गर्भ से ही पुत्र-रत्न उत्पन्न होगा।

जब वह ब्याहने योग्य हुई, तो पास ही एक दूसरे गाँव में एक धनी व्यक्ति के यहाँ उसकी शादी हुई। ईश्वर की इच्छा, कुछ समय के उपरान्त, उसके एक बालक उत्पन्न हुआ। तब वह उस पीपल के वृक्ष को जल और प्रसाद चढ़ाने के लिए पूर्णिमा के दिन वहाँ जाने की तैयारी करने लगी। प्रातःकाल उठकर उसने दूध दुहवा कर खीर तैयार की। बड़ी श्रद्धा और भक्ति के साथ खीर को एक सोने की थाली में रखकर वह पूजा के लिए चलने को प्रस्तुत हुई। चलते समय उसने अपने सुन्दर बहुमूल्य वस्त्राभूषण पहन लिये।

प्रसाद को अपने मस्तक पर रखकर वह उसी पीपल के पेड़ के समीप पहुँची। ज्योंही उस वृक्ष के नीचे पहुँची, एक दिव्य मूर्त्ति को अपने सामने देखा। मूर्त्ति बड़ी ही भव्य और ज्योतिर्मयी थी। उसको यह मालूम पड़ने लगा कि मेरे इष्ट-देव प्रसाद लेने के लिए साक्षात् आ गये हैं। वह उस प्रसाद को बड़ी नम्रता और श्रद्धा के साथ उनके समीप रखकर चुपचाप वहाँ से चली आई।

उस पीपल के पेड़ के नीचे बैठे हुए दिव्य कान्ति वाले पुरुष गौतम थे। उन्होंने प्रसाद ले लिया। निरंजना-नदी में स्नान कर उन्होंने कपड़े बदल डाले, और भोजन करने के लिए बैठ गये। भोजन करके संध्या समय नदी के किनारे भ्रमण करने के लिए चले गये; क्योंकि दिन में गर्मी अधिक पड़ चुकी थी। उनका ध्यान सदा अपने उस आदर्श को प्राप्त करने की ओर था, जिसे अनेक प्रयत्न करके भी वह अब तक नहीं प्राप्त कर सके थे। उनका जी इतने अधिक परिश्रम के कारण ऊब गया था, और लगातार असफल होने के कारण वह अपने आदर्श से विमुख हो जाने पर थे।

उनके सम्मुख घर के दृश्य एक-एक कर उपस्थित हुए—वह सुन्दरी सुशीला यशोधरा, जिसे उन्होंने छः वर्षों से नहीं देखा था—वह सुन्दर बालक, जिसे उन्होंने केवल जन्म के दिन ही देखा था --वह स्नेहशील पिता, जो वृद्ध हो गये थे और जो उन्हें प्राणों से भी बढ़कर चाहते थे। इनके अतिरिक्त राज-प्रासाद के सुख-ऐश्वर्य का भोग भी स्मरण हो आता था,

जिससे उनका मन व्यग्र हो जाया करता था। वह सोचने लगे कि उस ज्ञान से क्या लाभ, जो प्राप्त ही नहीं हो सकता ?

'मार' अपने अस्त्र का प्रयोग बराबर करता ही रहा। उसने गौतम को अनेक प्रलोभन दिखलाये; पर वह अब तक पराजित नहीं हुए थे। अन्त में उन्हें विश्वास हो गया कि इन कुभावनाओं का विनाश होगा, और शीघ्र ही मेरे हृदय में ज्ञान-ज्योति का प्रकाश होगा।

उस निरंजना-नदी के समीप में ही एक पीपल का पेड़ था। जिस दिन 'सुजाता' गौतम के पास भोजन ले आई थी, उसी दिन संध्याकाल में गौतम पीपल के वृक्ष के नीचे जाकर बैठ गये। उन्होंने दृढ़ प्रतिज्ञा कर ली कि जब तक मुझे ज्ञान प्राप्त नहीं होगा, मैं अपना आसन यहाँ से नहीं उठाऊँगा, चाहे मेरे शरीर का चाम और खून सूख जाय।

ऐसा पक्का इरादा कर पलथी मार वह पीपल के पेड़ की तरफ अपनी पीठ करके बैठ गये। तब 'मार'—दुष्कर्मों की ओर लोगों के चित्त को खींचने वाला—मन-ही-मन सोचने लगा—यदि मैं गौतम को 'बुद्ध' हो जाने के पूर्व ही पथ-भ्रष्ट न कर सका, तो मेरी शक्ति जाती रहेगी—मेरा बल चकनाचूर हो जायगा। इसलिए उसने ऐसी भयंकर-भयंकर उपाधियाँ उठाईं कि जिनसे साधारण मनुष्य के प्राण तक नहीं बचने पाते। उसने देखा कि मेरी आयु के शेष दिन अब अब बहुत थोड़े रह गये हैं। इस कारण उसने अपनी सारी शक्ति गौतम के विरुद्ध लगाई।

उसने अपनी नारकी सेनाओं को बुलाया—ये सब-के-सब डटकर खड़ी हो गईं और भीषण आर्त्त-नाद करने लगीं। उसकी अजेय सेना चारो दिशाओं में छा गई। आकाश तक में बादल की तरह फैल गई। इससे ऐसा अन्धकार हो गया कि तारे दृष्टि-गोचर नहीं हाते थे। पृथ्वी हिलने लगी। आकाश में जोरों से वज्र-ध्वनि होने लगी। हवा इतनी तेज बहने लगी कि बड़े-बड़े पेड़ जड़ से उखड़ गये। कितने पहाड़ दो-दो टुकड़े हो गये। नदियों की धारायें विपरीत दिशाओं में बहने लगीं।

गौतम के सहायक देवतागण, जो उन्हें सहायता देने के लिए आये थे, इस प्रलयकालीन दृश्य को देख डरकर बहुत दूर भाग गये। गौतम घबराकर इधर-उधर देखने लगे; परन्तु उन्हें अपना सहायक कोई भी नजर नहीं आया। इस समय वह स्वयं ही अपने सहायक रह गये थे। उनकी अपनी दृढ़ता और पवित्रता ही सहायक के रूप में शेष रह गई थी।

'मार' की विघ्न-बाधायें गौतम को कुछ हानि न पहुँचा सकीं। वे स्वयं वृक्ष के पके हुए पत्तों की तरह बेकार हो गईं। तब उसने दुष्ट-आत्माओं को—भूत-प्रेतों को—आज्ञा दी कि तुम गौतम के अंग-अंग तोड़ डालो। परन्तु प्रेतों को इतना साहस नहीं होता था कि वे गौतम के समीप पहुँचें, या उनको किसी प्रकार का शारीरिक कष्ट दें।

इसके बाद भूतों ने आग बरसाना आरम्भ कर दिया। आग की लपट धीरे-धीरे फैलकर ऊपर उठने लगी। तब

भूतों ने अनेक प्रकार के भयंकर रूप धारण किये। परन्तु उनके भयंकर रूपों को देखकर भी गौतम घबराये नहीं। यदि कोई दूसरा आदमी होता, तो डरकर मर ही जाता।

यह सब काम रात में हुए थे। जब रात्रि समाप्त हो चुकी, तो 'मार' सोचने लगा कि यथार्थतः शुद्धोदन के पुत्र सिद्धार्थ के समान कोई दूसरा मनुष्य नहीं है। जब प्रातःकाल हुआ तो भूत-प्रेत एक-एक कर चले गये। वहाँ पर केवल गौतम, बच रहे।

गौतम की इस विजय पर देवतागण बहुत हर्षित हुए। वे दुन्दुभी बजाकर और फूल बरसाकर अपना आनन्द प्रगट करने लगे। प्रकृति भी 'मार' की हार पर खुशी मनाने लगी। सूखी जमीन और चट्टानों पर कमल के फूल खिलने लगे! परन्तु गौतम न तो विघ्न-बाधाओं को पाकर दुःखित हुए थे, और न इन आश्चर्य-जनक अप्राकृतिक घटनाओं को देखकर आनन्दित अथवा आश्चर्यित हुए।

× × ×

जब कोई मनुष्य बहुत समय के अनन्तर कारागृह से बाहर आता है, तो सब पदार्थ उसे प्रकाशमान मालूम होने लगते हैं। उसी प्रकार, जब गौतम को ज्ञान-ज्योति प्राप्त हुई, तो उन्हें 'सत्य' प्रकट और प्रत्यक्ष दीख पड़ने लगा, तथा जीवन-मरण का रहस्य आप-से-आप मालूम होने लगा।

दिव्य चक्षु पाकर वह गुह्यतम रहस्यों का पता पाने लगे। अब उनके हृदय में शंका-समाधान नहीं होता था। जो बात

सच्ची थी, उन्हें स्पष्ट रूप से मालूम हो जाती थी। उसकी सत्यता जानने के लिए किसी दूसरे व्यक्ति से पूछने की आवश्यकता नहीं होती थी। किसी प्रकार की शंका उनके हृदय में नहीं उठती थी। उन्हें मालूम होने लगा कि संसार-चक्र सत्य और न्याय द्वारा ही चलाया जाता है, और यह चक्र नियमित रूप से ही चलता है। प्रत्येक 'कार्य' के लिए —चाहे वह कार्य मानसिक हो या धार्मिक या नैतिक या भौतिक—'कारण' का होना आवश्यक है। यही धर्म है—यही नियम है। इसके विपरीत कोई भी कार्य नहीं हो सकता। अकारण कोई घटना नहीं घट सकती। जो इस समय में 'कार्य' है, वह पूर्व के 'कारण' का फल-स्वरूप है। और, उसी प्रकार वर्त्तमान समय का 'कार्य' भविष्य के लिए 'कारण' का स्थान ग्रहण करेगा—अर्थात्, प्रत्येक 'कार्य' का फल अवश्य होता है। यह कर्म का अटल सिद्धान्त है।

बुद्धदेव ने बतलाया है कि इस नियम का प्रयोग मानसिक और नैतिक कार्यों में भी होता है। उन्होंने इस 'कार्य-कारण' के तत्व को भौतिक संसार में ही आबद्ध नहीं रखा। उनका सिद्धान्त है कि प्रत्येक विचार और प्रत्येक कार्य का फल अवश्य होता है। अच्छे कार्यों के फल अच्छे और बुरे के बुरे होते हैं। इस प्रकार हम लोगों के वर्त्तमान जीवन-कार्य के फल हमारे भविष्य-जीवन के बीज-कारण हो जाते हैं। मृत्यु के बाद मनुष्य अपने-अपने कर्म के अनुसार ही अच्छा या बुरा मनुष्य होकर उत्पन्न होता है। हम लोगों के चरित्र

हमारे वर्त्तमान जीवन-कार्यों से ही नहीं बनते, प्रत्युत ये अगणित भूत-जीवन के—पूर्व जन्मों के—फल-स्वरूप हैं। यदि हम अच्छे कार्य करने का अवसर खो दें, और बुरे कर्मों में ही प्रवृत्त हो जायँ, तो हम अपने भविष्य-जीवन के लिए दुःख और शोक इकट्ठा करेंगे।

बुद्ध ने इन सब विषयों को स्पष्ट रीति से समझ लिया। उन्हें यह भी मालूम हो गया कि हमारे दुःख के कारण क्या हैं, और उनको दूर करने के उपाय क्या हैं। उनके विचारानुसार पाप और बुरे कर्मों से दुःख उत्पन्न होते हैं। दुःख का मूल कारण अज्ञान है, जो सत्य को छिपा देता है—जो हमें सांसारिक क्षणिक वस्तु में आसक्त कर देता है। जितने दृश्यमान पदार्थ हैं, जितनी चीजें नेत्रादि इन्द्रियों की सहायता से जानी जाती हैं, सब परिवर्त्तनशील हैं। उनका नाश होता है—पुनर्संगठन होता है, और फिर उनका नाश हो जाता है, और यह क्रम बराबर जारी रहता है। इस संसार के सब पदार्थ अस्थिर हैं। एक क्षण के लिए भी कोई चीज एक दशा में नहीं रहती। जिस समय मनुष्य का जन्म होता है, उसी समय से उसका मन, उसका शरीर और उसकी शक्तियाँ बढ़ने और बदलने लगती हैं। इस प्रकार, कोई भी मनुष्य, थोड़ी देर के लिए भी, किसी दूसरे क्षण में, वही मनुष्य नहीं रह जाता। यह परिवर्त्तनशीलता सर्वत्र व्याप्त है, सब जगहों में फैली हुई है। चराचर—संसार के सब पदार्थ—इसी नियम के अनुसार चलते हैं। जिस देश में हम रहते हैं, उसका

स्वरूप भी, धीरे-ही-धीरे क्यों न हो, अवश्य बदलता रहता है। किसी स्थान में नदियाँ चट्टानों को तोड़ती हैं और आगे बढ़ती जाती हैं। फिर, किसी दूसरे स्थान में पृथ्वी बढ़ती रहती है और नदियों को दबा लेती है।

यह परिवर्त्तनशीलता का सिद्धान्त अनुभव-सिद्ध है। हम लोग आकाश में बादलों को देखते हैं, जिनका स्वरूप पहाड़ या घाटी या किसी पशु के सदृश होता है। हम देखते हैं कि थोड़े समय में ही वे बदल जाते हैं। जानवर बदलकर पेड़ बन जाता है, और पहाड़ चिड़िया हो जाता है। इतना ही नहीं, जिस दिशा में इन दृश्यों को हम देखते हैं, वह दिशा भी एक-आध घंटे के भीतर ही सम्पूर्ण रूप से बदल जाती है। इसी प्रकार, समस्त संसार क्षण-क्षण में नवीन स्वरूप धारण करता रहता है। इस क्रिया की समाप्ति कभी नहीं होती।

मनुष्य को सच्चा सुख संसार में नहीं मिल सकता। जब तक मनुष्य संसार में जन्म लेता रहता है, उसे शान्ति नहीं मिल सकती। जब वह निर्वाण प्राप्त कर लेता है, और आवागमन से छुटकारा पा जाता है, तभी उसे यथार्थ आनन्द मिलता है। जब तक वह अपने कर्मों का फल पूरी तरह नहीं भोग लेता, वह जन्म-ग्रहण करता ही रहता है। मृत्यु के अनन्तर, अच्छे कर्मों का फल भोगने के लिए, वह स्वर्ग में जाता है, और बुरे फल को चखने के लिए नरक में भेजा जाता है। 'निर्वाण' उस समय प्राप्त होता है, जब मनुष्य

अपने बुरे कर्मों का फल भुगत कर वासना-रहित हो जाते हैं। 'निर्वाण' किसी स्थान का नाम नहीं है, यह एक मानसिक अवस्था है, जिसमें दुःख का नामोनिशान नहीं रह जाता। जीवन्मुक्त पुरुष—और स्त्री भी—अपने जीवन-काल में ही निर्वाण प्राप्त कर लेते हैं।

'निर्वाण' प्राप्त होने पर क्या होता है, इस विषय में बुद्ध-देव ने अपने शिष्यों से विस्तार-पूर्वक कुछ नहीं कहा। उन्होंने यह नहीं कहा कि निर्वाण मिलने पर सांसारिक वासनाओं की पूर्ति होती है—लोगों को खाने के लिए अच्छे-अच्छे पदार्थ और रहने के लिए बड़े-बड़े महल मिलते हैं। हाँ, उन्होंने यह जरूर बतलाया कि निर्वाण प्राप्त होने पर सब दुःख दूर हो जाते हैं, सब वासनायें नष्ट हो जाती हैं, बुरे विचार मन में नहीं उठते, और मनुष्य राग-द्वेष से रहित हो जाते हैं।

'निर्वाण' का वर्णन करने के लिए उन्होंने इसे 'उस पार' (other shore) की उपाधि से विभूषित किया है। इस पार में दुःख और क्लेश है, उस पार में सुख और शान्ति है। उस पार में परिवर्त्तनशीलता का अधिकार नहीं है।

उपदेश

जिस वृक्ष के नीचे बुद्धदेव को ज्ञान प्राप्त हुआ था, वह 'बोधिसत्व-वृक्ष' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। हजारों वर्ष तक वह स्थान प्रसिद्ध रहा और झुंड-के-झुंड मनुष्य वहाँ दर्शन करने के लिए जाते थे। वह सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक स्थान अब

भी देखने योग्य है। देश-विदेश के लोग, इस समय में भी, बुद्धदेव की मूर्ति के दर्शन के लिए बराबर 'बोध-गया' आते-जाते रहते हैं।

बुद्ध को सत्य का साक्षत्कार हुआ। सब लोग सत्य को नहीं देख सकते; क्योंकि सबकी बुद्धि तीक्ष्ण नहीं है, और सबकी वासनायें नष्ट नहीं हुई हैं।

जिस स्थान में बुद्ध को सत्य के दर्शन हुए, उसे वह झट-पट छोड़ना नहीं चाहते थे; क्योंकि उन्हें वहाँ छः वर्षों के कठिन परिश्रम के बाद सुख और शान्ति मिली थी। यह किम्बदन्ती है कि बुद्ध उस स्थान में सात बार सात दिनों तक ठहरे थे, और वहीं, शान्ति देने वाले तथा पाप एवं दुःख को दूर करने वाले 'निर्वाण' का ध्यान करते रहे।

बुद्ध के मन में एक शंका उत्पन्न हुई—उनके मन में यह असमंजस होने लगा—कि मैं इस आविष्कृत सत्य का उपदेश लोगों को दूँ या नहीं। उन्होंने सोचा कि मेरा सिद्धान्त—मेरा नवीन धर्म—इतना सीधा और स्पष्ट है कि वे भी, जो वैदिक धर्म—सनातनधर्म—में विश्वास रखते हैं, मेरे धर्म को समझ लेंगे। वैदिक धर्म और बौद्ध धर्म में प्रधान भेद यह है कि बौद्ध-धर्मानुसार यज्ञ, यंत्र-मंत्र-तंत्र, दान-पूजा आदि कर्मकांड की उपासना से मनुष्य के पाप नष्ट नहीं होते और न इनसे मनुष्य को मोक्ष (निर्वाण) मिल सकता है। परन्तु, इसके विपरीत, वैदिक-धर्मानुसार इनसे पाप नष्ट होते हैं, और ये मोक्ष के सहायक हैं। कार्य-कारण का सिद्धान्त

अटल है। यही कारण है कि बौद्ध-धर्मावलम्बी सदाचार को अत्यधिक महत्व देते हैं। उनकी दृष्टि में ब्रह्मा, विष्णु अथवा ब्राह्मणों की पूजा करने से कुछ लाभ नहीं हो सकता; ग्रह-शान्ति के लिए दान देने से कुछ भी फायदा नहीं, व्रतोपासना से कुछ लाभ नहीं। उनके विचार से तो सत्य बोलना, इन्द्रियों को अपने वश में रखना और दूसरों पर दया करना ही सत्कार्य है। इस नवीन धर्म का—बौद्ध धर्म का—यही सारांश है। हमें सत्कार्य करना चाहिये, क्योंकि इसका फल अच्छा होता है। इस प्रकार, एक बार के अच्छे कार्य का फल संसार में कार्य-कारण का रूप धारण कर अनन्त काल तक फैल जाता है।

बुद्धदेव मनुष्य-प्रकृति से पूर्ण परिचित थे। इसलिए उन्हें यह शंका होने लगी कि क्या मनुष्य इस नवीन धर्म को, जिसमें वाह्याडम्बर कुछ भी नहीं है, ग्रहण करेंगे? यज्ञ करना अथवा मंत्र जपना एक साधारण कार्य है; परन्तु दुर्वृत्तियों को रोकना सहज नहीं है। साथ ही, सांसारिक पदार्थों की क्षण-भंगुरता को समझ लेना भी बहुत कठिन कार्य है। उन्होंने सोचा कि जो मनुष्य सांसारिक सुखों को ही अपना सर्वस्व समझ लेता है, अथवा जो धन-संचय करना ही अपना प्रधान धर्म समझता है, उसे यह बतलाना कि संसार मिथ्या है—इसके सब पदार्थ प्रति क्षण नष्ट हो रहे हैं—मनुष्य का जीवन क्षणिक है—और किस समय यह समाप्त हो जायगा, इसका कुछ निश्चय नहीं है—आदि किस काम का? क्या हम उसे यह

कहकर सच्चे मार्ग पर—इस नवीन धर्म के पथ पर—ला सकते हैं कि केवल सत्य अविनाशी है, जिससे अनन्त जीवन और चिरकालिक शान्ति मिलती है?

इन कारणों से बुद्ध के मन में यह संशय बना ही रहा कि मैं इस नवीन धर्म का प्रचार जनता में करूँ या नहीं। अन्त में उनकी सहृदयता और दयालुता ने विजय पाई। उन्होंने यह निश्चय किया कि मैं इस धर्म का प्रचार जन-साधारण में करूँगा। सोचा, दो-चार मनुष्य भी मेरी बात पर अवश्य ध्यान देंगे।

बुद्ध ने सबसे पहले अपने गुरु 'अटल' और 'उदक' से यह नवीन कथा कहने का विचार किया। उन्हें आशा हुई कि वे इसे सुनकर अवश्य प्रसन्न होंगे। परन्तु उनको यह समाचार मिला कि वे दोनो ही परलोकवासी हो गये। तब वह ठिकरा—भिक्षा माँगने का पात्र—लेकर काशी की ओर चल पड़े। गाँव-के-गाँव पार करते हुए वह गंगा-तटस्थ काशी-नगरी के समीप पहुँचे। काशी से तीन मील दूर 'मृगारण्य' में उन्हें पाँच योगियों से भेंट हुई, जो पहले उनके शिष्य हो चुके थे। फिर, वहाँ से वह 'उसबेल'-जंगल की तरफ आगे बढ़े। हाँ, जब उन पाँचों शिष्यों ने उनको आते देखा, तो परस्पर यों बातें करने लगे—देखो भाई, यह तो वही मालूम पड़ता है, जो धर्म-भ्रष्ट हो गया था, जिसने व्रतोपासना छोड़ दी थी, जो साधारण मनुष्य के सदृश खाने-पीने लगा था। हम इसे दंडवत् नहीं करेंगे।

यह सोचकर उन लोगों ने बुद्ध के साथ भद्रोचित व्यवहार नहीं किया—उन्हें जली-कटी सुनाने लगे। परन्तु बुद्धदेव को इस समय आत्म-विश्वास अधिक हो गया था। उन्हें यह विश्वास हो गया कि मैं संसार का उपदेशक बनूँगा। इसलिए उन्होंने कहा—आप लोग मेरी बात सुनें। आप लोगों का यह व्यवहार अच्छा नहीं है। मैं संसार का उपदेशक हूँ। मेरे प्रति आपके ये दुर्व्यवहार शोभा नहीं देते।

इतना कहकर बुद्ध ने उन योगियों को अपने ज्ञान-प्राप्ति की कथा सुनाई, और अन्त में—किस प्रकार वह 'बुद्ध' हुए—यह भी कह सुनाया।

संध्या का समय था। ठंढी हवा बह रही थी। वृक्ष की पत्तियाँ हिल रही थीं। बुद्ध उन योगियों को उपदेश देने लगे। यही उनका प्रथम उपदेश था।

बुद्ध के उपदेश सुनकर प्रकृति भी मुग्ध हो गई—फूलों से सुगन्ध फूट निकली, नदियाँ थिरक-थिरक कर गीत गाने लगीं, तारात्रों में असाधारण ज्योति छा गई, हवा में विचित्र शब्द सुन पड़ने लगे; क्योंकि उपदेश सुनने के लिए देवतागण स्वर्ग से उतर आये थे।

उन पाँचो योगियों ने पुनः बुद्ध की शिष्यता स्वीकार की। उस रात में बुद्धदेव बहुत रात तक उपदेश देते रहे। वह उपदेश आज से २५०० वर्ष पूर्व दिया गया था; परन्तु लोगों के हृदय में वह अब तक वर्त्तमान है।

बुद्धदेव का उद्देश्य था कि संसार में सत्य का साम्राज्य

स्थापित हो। इसी लिए वह संसार में आये थे, और यही कार्य उन्होंने किया भी। उन्होंने सत्य-चतुष्टय का—चार सत्यों का—उपदेश दिया है, जिसका उल्लेख नीचे किया जाता है—

१—जब तक यह संसार है, दुःख और क्लेश भी है।

२—दुःख का मूल कारण सांसारिक पदार्थों में आसक्ति है।

३—मोक्ष का उपाय आत्म-संयम और इन्द्रिय-निरोध है।

४—निर्वाण के इच्छुकों के लिए अष्टचक्र का साधन आवश्यक है, प्रत्येक भिक्षु को जिसका अभ्यास करना चाहिये।

अष्टचक्र
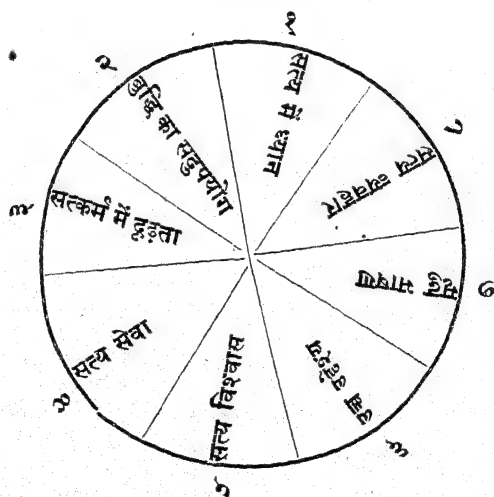
यह सत्य है कि जो इसका साधन करे, उसका जीवन सफल होगा, और वह दूसरों के लिए भी आदर्श बनेगा। बुद्ध ने इस नवीन पथ को 'मध्यपथ' के नाम से विभूषित किया है; क्योंकि इसके अनुसार न तो कोई सुख-ऐश्वर्य में लिप्त हो सकता है, और न व्रतोपासनादि से शरीर और आत्मा को कष्ट पहुँचा सकता है। सुख-भोग में लीन हो जाने से मनुष्य शरीर के अधीन हो जाता है। परन्तु मनुष्य के लिए तो उचित यह है कि वह अपनी बुद्धि और विवेक से काम ले। हाँ, शरीर को भी कष्ट देना हानिकारक है; क्योंकि काम करने का प्रधान साधन 'शरीर' व्रतोपासनादि से निर्बल हो जाता है।

यदि विचार-पूर्वक देखा जाय, तो बुद्धदेव का यह नवीन धर्म उतना सहज नहीं है, जितना प्रकट-रूप में यह देख पड़ता है। आत्म-संयम इस धर्म का सार पदार्थ है—यही इसकी भित्ति है, यही इसका आधार है। इन्द्रिय-दमन से बढ़कर अधिकतर कष्ट-साध्य कार्य और है ही क्या ?

बुद्ध के इस नवीन धर्म की ओर इतने मनुष्य आकृष्ट हो गये कि जिसको सुनकर लोगों के आश्चर्य का ठिकाना न रहेगा। उन्होंने सदिच्छा (Good Will) के प्रचार के लिए पूर्ण प्रयत्न किया। यह सदिच्छा यद्यपि स्वयं सम्पूर्ण-सत्य का स्वरूप नहीं है, तथापि सत्य का अंश अवश्य है।

बौद्ध-धर्म को अंगीकार करने वालों में सर्व-प्रथम नाम 'यश' का आता है। वह बहुत धनी व्यक्ति था—अपनी सारी

सम्पत्ति और धन-जन छोड़कर बुद्ध के समान भिक्षु हो गया। यह कोई आवश्यक नहीं था कि जो बौद्ध-धर्म को स्वीकार कर लें, वे गृहत्यागी भी हो जायँ; प्रत्युत बिना घर छोड़े भी एक गृहस्थ बौद्ध हो सकता था। बुद्ध के कितने ही सुप्रसिद्ध अनुयायी गृहस्थ थे।

कुछ काल तक बुद्ध मृगारण्य (काशी) में रहे, और जो कोई उनके पास जाते थे, उन्हें वह उपदेश देते थे। उनका उपदेश सबके लिए समान रूप से होता था। उनके उपदेश के अधिकारी—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—सब होते थे। धनी और दरिद्र, युवा और वृद्ध, सबको वह उपदेश देते थे। तीन ही मास में शिष्यों की संख्या साठ हो गई। उन्हें एक बार बुद्ध इस प्रकार उपदेश देने लगे—

प्रिय भिक्षुगण ! हम लोगों के ऊपर कर्त्तव्य का एक बहुत भारी बोझ है। हमारा कर्त्तव्य है कि हम मनुष्य और देवताओं के मोक्ष का मार्ग ढूँढ़ निकालें और उन्हें निर्वाण प्राप्त करने में सहायता दें। अब हम लोगों को यहाँ से अलग-अलग हो चारों दिशाओं में फैलकर उपदेश करना चाहिये। हम लोग भिन्न-भिन्न दिशाओं में चले जायँ, किसी एक को दूसरे से भेंट न हो। यह आपका कर्त्तव्य होना चाहिये कि जो कुछ मैंने आप लोगों को बतलाया है, उसका उपदेश आप दूसरों को दें। आप लोग चारों ओर फैल जायँ, मैं 'उसवेल'-जंगल के समीप 'सेनानी' नाम के गाँव में जाता हूँ।

बुद्ध वहाँ से 'सेनानी' पहुँचे। यहाँ उन्हें 'कश्यप' से भेंट

हुई। यह योगी थे। इनके दो भाई और थे। सब अग्निहोत्री थे। इन पर लोगों की श्रद्धा बहुत थी। इनके कई शिष्य भी थे। जिस समय बुद्ध इनके समीप पहुँचे, सब यही सोच रहे थे कि बुद्ध एक साधारण व्यक्ति हैं। परन्तु, जब बुद्ध अपने विचारों को उनके सम्मुख प्रगट करने लगे, तो उन लोगों का ध्यान भी इस ओर आकृष्ट हुआ, और वे बुद्ध की बातें ध्यान से सुनने लगे। फल यह हुआ कि तीनों ने बुद्ध की शिष्यता स्वीकार कर ली। इस प्रकार, अपने अनेकों शिष्यों के साथ 'कश्यप' तीनों भाई बौद्ध-धर्मावलम्बी हो गये।

बुद्ध के उपदेश सरल और हृदय-ग्राही होते थे। एक दिन वह नवीन शिष्यों के साथ एक चट्टान पर बैठे हुए थे, जिसे लोग 'हस्ति-शिला' कहते हैं। यह राजगृह के समीप है। उसी समय एकाएक जंगल में आग लग गई। आकाश लाल हो गया। जंगल के जीव-जन्तु मृत्यु के मुख से बचने के लिए चारों ओर भागकर निरापद स्थान ढूँढ़ने लगे।

बुद्ध अपने शिष्यों से दुर्वासनाओं को शमन करने के विषय में कह रहे थे। वह आन्तरिक उत्तेजना और चिन्ता से उस अग्नि की समता करने लगे। कहने लगे—जो कोई सांसारिक सुख में तन्मय हो जाता है, वह चिन्ता-रूपी ज्वाला में जलकर—जो इसी अग्नि के समान होती है—मृत्यु को प्राप्त करता है। आग तब तक जलती है, जब तक ईंधन रहता है। हमारे शरीर-रूपी वन में तब तक तृष्णा और घृणा की ज्वाला जलती है, जब तक सांसारिक-सुख-रूपी जलावन

की आँच पहुँचती रहती है। उस मनुष्य को देखो, जो दिन-रात द्रव्योपार्जन की चिन्ता में निमग्न रहता है। उसे अपने वर्त्तमान धन से सन्तोष नहीं होता। वह और अधिक धन के लिए लालायित रहता है, अपने उपार्जित धन के नष्ट होने के भय से सदा चिन्तित रहता है—उसे शान्ति नहीं मिलती। परन्तु, उस मनुष्य को, जिसने अपना सर्वस्व त्याग दिया है, तृष्णा नहीं सताती। न तो उसे कुछ उपार्जन करने की चिन्ता रहती है, और न उसे उपार्जित के नष्ट हो जाने का भय रहता है। ऐसे ही मनुष्य शान्ति पाते हैं।

बुद्ध का यह उपदेश 'ज्वालोपदेश' के नाम से प्रसिद्ध है। यह उपदेश, अब तक, प्राचीन पुस्तकों के संग्रह में पाया जाता है।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि घर से निकलने पर गौतम सर्वप्रथम राजगृह में पहुँचे थे। वहाँ उन्हें राजा विम्बसार से भेंट हुई थी। उन्होंने राजा को वचन दिया था कि मैं ज्ञान प्राप्त कर यहाँ एक बार फिर अवश्य आऊँगा। वह प्रतिज्ञा उनको स्मरण हो आई। वह सीधे राजगृह की ओर चले। उनके साथ बहुत-से शिष्य भी चल पड़े।

विम्बसार राजमहल में बैठा हुआ था। एक दूत ने आकर नम्रता पूर्वक कहा कि बुद्ध आये हैं। वह झट उठा, और बहुत-से सरदारों और दरबारियों के साथ उस कुंज में पहुँचा, जहाँ बुद्ध अपने शिष्यों के साथ बैठे थे।

सात वर्ष पूर्व गौतम अपना राज्य और देश छोड़कर निकले थे। उस समय वह भिक्षा-वृत्ति से ही अपना उदर-

पोषण करते थे। अब उन्हें भीख माँगना नहीं पड़ता था। उस समय के कड़े और रूखे भोजन उन्हें कितने अप्रिय मालूम पड़ते होंगे?

उसके अनन्तर गौतम को अनेक प्रकार के अनुभव प्राप्त हुए। 'उरुवेल'–जंगल में की गई छः वर्ष की व्रतोपासना ने उन्हें भूख और कष्टों का अनुभव कराया। फिर उन्हें यह भी मालूम हुआ कि तृष्णा क्या है। पश्चात् उन्होंने तृष्णा को समूल नष्ट कर आत्म-विजय प्राप्त किया, जिससे सर्वदा के लिए दुःख दूर हो गया, और उन्हें चिर-शान्ति मिली।

अब वही आत्म-विजयी, सिद्ध, तपोधन, दयाधाम, शान्त और जीवन्मुक्त बुद्ध आज मगध में लौट कर आये हुए हैं।

विम्बसार बड़ा प्रतापी राजा था। परन्तु ज्योंही वह बुद्ध के समीप पहुँचा, बड़ी नम्रता से प्रणाम किया, और उनके शिष्यों के बीच में बैठ गया। इस प्रकार उसने यह प्रकट किया कि बुद्ध एक महान् व्यक्ति हैं।

तब, बुद्ध ने 'सत्य-चतुष्टय' और 'अष्टदल-कमल' के विषय में उपदेश दिया, जो शान्ति और निर्वाण देने वाले हैं। इस व्याख्या का प्रभाव विम्बसार पर खूब पड़ा। उसने बौद्ध-धर्म स्वीकार कर लिया। बोला—मैं बुद्ध की शरण में आता हूँ, बौद्ध-धर्म की शरण में आता हूँ, बौद्ध संघ की शरण में आता हूँ।

विम्बसार के ये वाक्य अब भी बौद्ध-धर्म की दीक्षा लेने के समय लोग उच्चारण करते हैं।

जब दीक्षा ग्रहण कर विम्बसार उठने लगा, तो उसने सब बौद्ध-भिक्षुओं को कल प्रातःकाल के लिए सादर निमंत्रण दिया।

जब राजगृह के लोगों को यह विदित हुआ कि राजा विम्बसार ने बौद्ध-धर्म को ग्रहण कर लिया, तो बुद्ध को देखने के लिए लोगों की भीड़ इकट्ठा होने लगी। सब लोगों ने बुद्ध और उनके शिष्यों के दर्शन किये।

प्रातःकाल हुआ। बुद्ध के शिष्यगण राजमहल में उपस्थित हुए। राजा ने सबको तृप्तिकर भोजन कराया। फिर बुद्ध से यह प्रार्थना की कि आप यहाँ पर 'विल्व-वन' में रहें, जो राजमहल के समीप में ही है। उस वन को राजा ने बौद्ध संघ को समर्पित कर दिया। एक सोने के बहुमूल्य जलपात्र में सुगन्धित जल रखा गया। राजा ने बुद्धदेव की अंजलि में उसे डाल दिया, जिसका तात्पर्य यह था कि बुद्धदेव मेरे तुच्छ उपहार को स्वीकार करें।

यहाँ बुद्ध दो महीने तक रहे। पहले के साठ शिष्य, जो काशी भेजे गये थे, यहाँ आकर मिल गये। यहाँ कितने ही व्यक्तियों ने बौद्ध-धर्म स्वीकार किया, जिनमें दो—शालिपुत्र और मंगल—विशेष्य उल्लेख-योग्य हैं। ये दोनों ही गृह-त्यागी हो गये। ये दोनों 'बाम' और 'दक्षिण' भिक्षु के नाम से प्रसिद्ध हैं, क्योंकि इन्हें बुद्धदेव अपनी बाईं और दाहिनी भुजा समझते थे।

कपिलवस्तु में

अब हम एक बार 'कपिलवस्तु' में लौटकर आते हैं। जब से गौतम 'कंटक' और 'चन्दा' के साथ आधी रात को घर से बाहर चले गये, तब से—सात वर्षों तक—किसी ने फिर उन्हें नहीं देखा था। हम देख चुके हैं कि राजा शुद्धोदन बहुत पहले से ही गौतम को गृह-त्यागी न होने देने का यत्न कर रहे थे; पर उनके सब यत्न निष्फल हुए। जब उनको चन्दा द्वारा यह समाचार मालूम हुआ कि गौतम घर-द्वार छोड़कर भिक्षु हो गये, तो उनके शोक का ठिकाना न रहा। राजमहल के अन्यान्य लोग भी बहुत दुःखी हुए।

इसके बाद राजा बराबर अपना दूत भेजते रहे कि कोई गौतम का कुशल-समाचार कह सुनाये; पर बहुत दिनों तक किसी को गौतम का पता न लगा। अन्त में, बहुत कठिनता से, एक दूत को इसका पता चला कि गौतम तपस्या कर रहे हैं, और व्रतोपासना से उनकी आकृति एकदम बदल गई है—अब उन्हें देखकर कोई पहचान भी नहीं सकता।

इसके बाद फिर बहुत समय तक राजा को गौतम के विषय में कोई समाचार नहीं मिला। आखिरकार एक बार यह खबर मिली कि गौतम अब अच्छी तरह हैं, और वह "बुद्ध" हो गये हैं। दूत ने आकर कहा कि गौतम इस समय राजगृह में ठहरे हुए हैं।

यह समाचार पाकर राजा बहुत हर्षित हुए। गौतम को

बुलाने के लिए मंत्री को एक हजार आदमियों के साथ भेजा। मंत्री से कह दिया कि जाकर बुद्ध से कह देना—आपके पिता आपको देखने के लिए व्यग्र हैं। साथ ही, राजा ने इतना और कह दिया कि गौतम को अपने साथ ही लाना।

बहुत समय व्यतीत हो गया; पर मंत्री महाशय लौटकर नहीं आये। कोई दूत भी समाचार लेकर नहीं लौटा। तब राजा ने एक सरदार को भेजा; पर वह भी लौटकर नहीं आया। इस सरदार के साथ भी एक हजार मनुष्य भेजे गये थे। उनमें से भी कोई नहीं लौटा।

अब, राजा की चिन्ता बेहद बढ़ गई। गौतम की स्त्री यशोधरा भी राजमहल की खिड़की से दिन-भर झाँकती रहती थी—राजगृह की तरफ से आते हुए लोगों के झुंड को देखने के लिए व्यग्र रहती थी; पर उसकी यह आशा निष्फल हुई।

इसके बाद एक-एक कर नौ सरदार और भी भेजे गये—प्रत्येक के साथ एक-एक हजार मनुष्य! पर ये सब भी कहाँ रह गये, किसी को कुछ मालूम नहीं!

राजा ने सोचा, अब मैं किस पर विश्वास करूँ। अन्त को उन्हें 'काल-उदयिन' का नाम याद आया। उसे फौरन बुला भेजा। वह बड़ा ही आज्ञाकारी था। गौतम का समवयस्क था। गौतम से उसकी खूब मित्रता थी। दोनों बालपन से ही एक साथ रहे थे।

उसके आने पर राजा ने कहा—काल! देखो, कितने ही

दूतों को मैंने गौतम के पास भेजा, पर न तो कोई लौटकर आया—न किसी ने कोई समाचार ही कहला भेजा। मैं समझता हूँ कि तुम्हीं से यह काम होने वाला है। तुम जाकर गौतम की खबर लाओ। जाकर उनसे कहो कि आपके पिता वृद्ध हो गये हैं; अब उनके जीने का कुछ ठिकाना नहीं है; वह चाहते हैं कि मरने के पहले आपसे एक बार भेंट कर लें।

राजा की बात सुनकर कालउदयिन द्रवित हो गया। उसने यह प्रतिज्ञा कर कि 'मैं गौतम का समाचार आपको अवश्य सुनाऊँगा—शीघ्र प्रस्थान किया। जब राजगृह पहुँचा, तो देखा कि जितने मनुष्यों को राजा ने गौतम के पास भेजा था, सब 'बुद्ध' के अनुयायी हो गये हैं, सब-के-सब गेरुआ-वस्त्र धारण कर भिक्षु बन गये हैं, और इसी कारण से कोई भी व्यक्ति राजा की बात पर ध्यान नहीं दे सका था।

यद्यपि राजगृह पहुँचकर उदयिन भी बुद्ध के उपदेश सुन-बौद्ध धर्म का मानने वाला हो गया, तथापि वह अपनी प्रतिज्ञा नहीं भूला। वसन्त-ऋतु का सुहावना समय था, आकाश में बादल नहीं थे, ठंढी हवा चल रही थी। उपयुक्त समय देखकर वह बुद्ध के पास गया, और राजा का संदेश सुनाते हुए बोला—देव! यह वसन्त-ऋतु है, सड़कें सूख गई हैं, फूलों के फूलने का समय आ गया है; इसी समय सफर करना अच्छा होगा।

बुद्ध चलने को तैयार हुए। अपने शिष्यों से यात्रा की

तैयारी करने के लिए कह दिया; क्योंकि भिक्षुओं को घूमते-फिरते रहना चाहिये—'साधू-जन रमते भले'। सब पाँव-पयादे ही चले, और लगभग दो महीने में कपिलवस्तु पहुँच गये।

दूत ने पहले ही आकर राजा को समाचार दिया कि गौतम-बुद्ध आ रहे हैं। राजा आनन्द-सागर में गोते खाने लगे। बुद्ध का स्वागत करने के लिए वह दरबारियों के साथ सिंहद्वार पर आकर ठहर गये। उनके साथ सब भाई-भतीजे राज-परिवार के और भी कितने व्यक्ति थे। सबके हाथ में फूल और मालायें थीं।

बुद्ध के ठहरने के लिए महल के बाहर ही एक वट-वृक्ष के नीचे एक कुटी बनाई गई थी; क्योंकि वह राजमहल में जाकर डेरा नहीं डालते।

जब बुद्धदेव अपने शिष्यों के साथ सिंहद्वार पर पहुँचे, तो राजा शुद्धोदन अपने प्रिय पुत्र के पैर पर जा गिरे। बुद्ध उस समय ऐसे तेजस्वी मालूम पड़ते थे कि राजा शुद्धोदन उन्हें अपना अधिराजा ही समझने लगे। इसके पहले भी, दो बार, बुद्ध के सामने राजा अपना सिर झुका चुके थे—पहली बार, जब हिमालय के योगी ने बुद्ध के जन्म के अवसर पर भविष्यवाणी की थी—दूसरी बार, जब जामुन के वृक्ष की छाया बुद्ध के शरीर पर से नहीं हटी थी।

बुद्ध के चचा, क्षत्रिय होने के कारण, स्वभावतः आत्माभिमानी थे। पहले तो उन्होंने बुद्ध के आगे अपना सिर

झुकाना उचित नहीं समझा। परन्तु, पश्चात्, जब राजा शुद्धोदन ने दंडवत् किया, तो वह भी झुक गये।

अभी तक राजा शुद्धोदन की ममता नहीं छूटी थी। इस अवस्था में भी वह सुख-स्वप्न देख रहे थे कि बुद्धदेव कपिल-वस्तु की राजगद्दी पर बैठेंगे—चक्रवर्ती राजा कहलायँगे। इसी अभिप्राय से उन्होंने राज्य के भोग्य सुखों का वर्णन किया; किन्तु बुद्ध पर इसका कुछ भी प्रभाव न पड़ा।

बुद्ध ने उत्तर दिया—जिस सुख का भोग मैं इस समय कर रहा हूँ, वह राज्य-सुख से कहीं अधिक उत्तम है। मेरा आनन्द सर्वोत्कृष्ट है—स्वर्गीय है—अनिर्वचनीय है—कल्पनातीत है।

रात में राजा ने अपने यहाँ से भोजन भेज दिया; पर प्रातःकाल कोई समाचार नहीं भेजा। इस लिए प्रातःकाल ही बुद्धदेव अपना भिक्षा-पात्र लेकर भोजन माँगने के लिए कपिल-वस्तु-नगर में निकल पड़े।

कितने आश्चर्य की बात है कि जो बुद्ध किसी दिन इस नगर के स्वामी हुए होते, आज वही अपनी राजधानी में भीख माँग रहे हैं! पर इस बात का खेद उनको जरा भी नहीं था। उनका मुख कमल के समान खिल रहा था। वह बहुत ही शान्त और प्रसन्न थे। उनके तेजस्वी स्वरूप को देख सब लोग सिर झुका-झुकाकर दंडवत् करने लगे। वह ऐसा मालूम होते थे कि स्वर्ग से कोई देवता उतर आया हो।

जब राजा को यह समाचार मिला कि बुद्ध भिक्षाटन कर

रहे हैं, तो वह बहुत क्रोधित हुए। वह झट कपड़े पहनकर अपने प्यारे पुत्र 'गौतम' की खोज में बाहर निकल पड़े। अन्त में, बुद्ध मिल गये। राजा ने कहा-बुद्ध ! तुम अपने वंश को क्यों कलंकित कर रहे हो ?

बुद्ध—हमारे वंश वाले सदा से ऐसा ही करते आये हैं।

राजा—हम लोगों का वंश क्षत्रिय का है। हम सदा से वीर होते आये हैं, राज्य करते आये हैं; भीख माँगना हमारा धर्म नहीं है; किसी ने आजतक भिक्षा-वृत्ति का अवलम्बन नहीं किया था।

बुद्ध—जी नहीं, मेरा तात्पर्य यह है कि सब धर्मोपदेशक इसी प्रकार जीवन-यापन करते थे-भिक्षा-वृत्ति पर ही निर्वाह करते थे।

इसके बाद बुद्ध ने फिर कहा—

> निर्मल जीवन कर लो अपना, अहा ! भटकते रहे कहाँ ?
> ऐसा ही करने वालों को सुख मिलता है यहाँ वहाँ ॥

बुद्ध की बात सुनकर राजा द्रवित हो गये। उन्होंने बुद्ध के हाथ से भिक्षा-पात्र ले लिया, और उनको अपने साथ राजमहल तक ले गये। वहाँ जाकर राजा ने उनके सब शिष्यों के लिए भोजन का प्रबन्ध करने की आज्ञा दी। जो जो कर्मचारी और सेवक-गण बौद्ध-भिक्षुओं को भोजन कराने के लिए आये थे, उन्हें सात वर्ष पूर्व का—वर्त्तमान दृश्य के एकदम विपरीत—दृश्य स्मरण हो आया। उस

समय राजकुमार गौतम मणिमुक्ता-भूषित राजकीय वस्त्र धारण कर राजमहल से फुलवाड़ी में आये थे—प्रजा यह सुनकर आनन्द मनाने लगी थी कि राजकुमार सिद्धार्थ को एक बालक-रत्न प्राप्त हुआ है ! परन्तु, उस समय भी सज्ञान बुद्ध मन-ही-मन यह निश्चय कर रहे थे कि मैं सर्वस्व त्याग दूँगा; बल्कि उसी रात को उन्होंने राजमहल छोड़ दिया था। तब से आज ही वह लौटकर आये हैं। और, आये भी, तो भोजन के लिए भिखारी की तरह द्वार-द्वार भटकते फिरते हैं !

जब भिक्षुगण भोजन कर चुके, तब अन्तःपुर की स्त्रियाँ बुद्ध के सत्कारार्थ आईं। परन्तु 'यशोधरा' नहीं आई। वह यह सोच रही थी कि बुद्ध को यदि मेरे लिए अब भी प्रेम होगा, तो वह स्वयं मुझे देखने के लिए मेरे पास आवेंगे। किन्तु, जब बुद्ध ने उन राजघराने की स्त्रियों में यशोधरा को नहीं पाया, तब वह शीघ्र उठकर उसके महल की ओर चले। उस समय उनके साथ राजा शुद्धोदन और दो शिष्य भी थे।

जब यशोधरा को यह समाचार मिला, और बुद्धदेव के आने की आहट कान में पड़ी, तो वह उनके स्वागतार्थ उठकर खड़ी हो गई। उसको इस बात का पूर्ण विश्वास था कि मेरे प्राणप्रिय स्वामी राजकुमार के वेश में नहीं होंगे—उनकी वह कान्ति और छटा, जो राजकुमार में होती है, नहीं होगी—उनमें वह पहले का-सा सौन्दर्य भी नहीं होगा। परन्तु जब उसने देखा कि मेरे स्वामी एक मुंडी संन्यासी के

वेश में गेरुआ-वस्त्र धारण किये सामने खड़े हैं, तो वह फूट-कर रो पड़ी—उनके पैरों पर गिर गई। अब उसे मालूम हुआ कि मेरे स्वामी मुझसे बहुत दूर हो गये हैं—हम दोनों में बहुत अन्तर पड़ गया है, जिसका दूर होना कठिन प्रतीत हो रहा है।

बुद्ध की मुखाकृति में शान्ति-सौन्दर्य-मिश्रित तेजस्विता चमक रही थी। उस समय यशोधरा के हृदय में अनायास यह भाव उत्पन्न हुआ कि जो एक दिन केवल मेरे ही थे, वह आज सबके हो रहे हैं!

हम लोग भी अपनी-अपनी इच्छा के अनुसार इस अपूर्व मिलन के विषय में बुद्ध के मनोगत भावों को अपने मन में अंकित कर सकते हैं। परन्तु, हमें उस अवसर के भावों का प्रमाण-युक्त उल्लेख नहीं मिला है। जो 'उस पार' में पहुँच गये हैं, जिन्होंने निर्वाण की शान्ति को प्राप्त कर लिया है, उन्हें साधारण मानसिक आवेग कभी चलायमान नहीं कर सकते। जिन्होंने अपने-आपको जीत लिया है, उन्हें कोई दूसरा जीत नहीं सकता। परन्तु, इसमें तो कुछ भी संशय नहीं कि बुद्ध ने व्यथित-हृदया यशोधरा को यथेष्ट आश्वासन दिया; क्योंकि उनके हृदय में अनन्त दया और अपार सहानुभूति थी। साथ ही, वह सांसारिक कमज़ोरियों और दुःखों को भली प्रकार जानते थे।

बुद्ध अधिक समय तक यशोधरा के सन्मुख नहीं ठहरे। उसे सान्त्वना देकर शीघ्र ही वहाँ से लौट पड़े।

शाक्य-वंशधर क्षत्रिय पहले तो यह देखकर बहुत असंतुष्ट हुए कि उनका एक वंशधर भिक्षु हो गया है। परन्तु जब उन्हें इस बात का पता लगा कि 'बुद्ध' शान्ति और मोक्ष के देने वाले उपदेशक हो गये हैं, तब उनमें से कुछ लोग बुद्ध की ओर आकृष्ट हुए। इस बात की सत्यता बुद्ध के सम्भाषण से भी मालूम होती थी कि वह यथार्थ में परोपकार के कार्य कर रहे हैं; और इसका प्रभाव शाक्यों पर भी क्रमशः पड़ने लगा।

बुद्ध के एक भाई 'नन्द' अपना राज्य छोड़कर भिक्षु बन गये। यहाँ तक कि राजा शुद्धोदन भी बुद्ध के नवीन मत को मानने लगे।

बुद्ध के एक चचेरा भाई थे, जिनका नाम 'आनन्द' था। ज्योतिषियों ने उनके विषय में कहा था कि वह बुद्ध के अनुयायी होंगे, और बुद्ध के साथ उनकी घनिष्ठ मित्रता होगी। इसलिए 'आनन्द' के पिता सर्वदा ऐसे उपायों का अवलम्बन करते रहे, जिनसे कि दोनों भाई कभी मिल-जुल न सकें। परन्तु उनका सब परिश्रम व्यर्थ हो गया।

संयोगवश, 'आनन्द' एक दिन बुद्ध के सन्मुख आये। बुद्ध को देखते ही वह उनके स्वभाव और वार्त्तालाप पर मुग्ध हो गये। फल यह हुआ कि बुद्ध जब उठकर चलने लगे तो 'आनन्द' भी उनके पीछे-पीछे हो लिये। किसी में इतना सामर्थ्य नहीं था कि वह 'आनन्द' को रोक सके।

देवदत्त भी, जो बुद्ध का चचेरा भाई था और बालपन में

बुद्ध के प्रति सर्वदा द्वेष-भाव रखता था, पश्चात् बौद्ध होकर संघ में सम्मिलित हो गया; पर वह हृदय से बौद्ध नहीं हुआ था। इस बात का प्रमाण आगे चलकर मिलेगा।

कपिलवस्तु में जितने मनुष्य इस नवीन धर्म को मानने लगे, उनमें बहुत-सी स्त्रियाँ भी थीं। कितनी स्त्रियों ने तो संघ में सम्मिलित होने के लिए बुद्धदेव से प्रार्थना भी की, परन्तु आरम्भ में उन्हें अनुमति नहीं मिली। कई वर्ष पश्चात् 'आनन्द' के प्रार्थना करने पर, जिन्हें बुद्ध प्राण-समान मानते थे, स्त्रियों को भी संघ में सम्मिलित होने की आज्ञा दे दी।

यशोधरा पति-शोक से सन्तप्त हो रही थी। सिद्धार्थ के लिए उसका प्रेम इतना अधिक था कि संसार के सब पदार्थ उसको नीरस मालूम होते थे। उसे इस बात का विश्वास नहीं था कि उसके पतिदेव उसके लिए ऐसे अनजान हो जायँगे। एक दिन वह अपनी दासियों के साथ उस स्थान में गई, जहाँ बुद्धदेव भोजन कर रहे थे। उसने सोचा कि मेरी सुन्दरता और शृंगार से पतिदेव मेरी ओर आकृष्ट हो जायँगे; पर ऐसा नहीं हुआ; बल्कि स्वयं वही बुद्ध की ओर खिंच गई। फिर कालान्तर में बौद्ध-धर्म को स्वीकार कर संघ में सम्मिलित हो गई, और भिक्षुणियों में वह एक प्रधान पात्री थी। बौद्धधर्म के लिए उसने बहुत–कुछ किया।

जब बुद्धदेव को कपिलवस्तु में आये एक सप्ताह बीत गया, तो यशोधरा ने अपने पुत्र 'राहुल' को उनके पास भेज

दिया। बुद्ध के पास पहुँचकर राहुल ने कहा—पिताजी, भविष्य में मैं राजा होऊँगा। आप मुझे राजकीय सम्पत्ति दें, जिसका मैं उत्तराधिकारी हूँ।

बुद्ध मन-ही-मन सोचने लगे—जिस सम्पत्ति को 'राहुल' चाहता है, वह नाशवान है, उससे तो इसको यथार्थ आनन्द प्राप्त हो नहीं सकता। मैं इसको वह सम्पत्ति दूँगा, जिसे मैंने बोधिसत्व-वृक्ष के नीचे प्राप्त किया है। इस प्रकार वह ईश्वरीय राज्य की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी होगा।

यह सोचकर बुद्ध ने अपने एक प्रिय शिष्य 'सारिपुत्र' से 'राहुल' को अपने संघ में ले लेने को कहा। आज्ञानुसार सारिपुत्र ने राहुल को भी संघ में दाखिल कर लिया। राहुल की शिक्षा-दीक्षा संघ में ही होने लगी।

जब राजा शुद्धोदन को यह समाचार मिला कि राहुल बौद्ध होकर संघ में शिक्षा प्राप्त कर रहा है, तो उन्हें अत्यधिक दुःख हुआ। तब, उन्होंने बुद्ध से यह प्रार्थना की कि भविष्य में अपने माता-पिता की आज्ञा के बिना कोई भी मनुष्य संघ में सम्मिलित न होने पावे।

बुद्ध ने राजा का कहना स्वीकार कर लिया। अब तक यह नियम बौद्ध-सम्प्रदाय में जारी है। इस समय भी जब कोई संघ में प्रवेश करता है, तो पहले उसे यह शपथ खानी पड़ती है कि मैं अपने माता-पिता की आज्ञा लेकर संघ में सम्मिलित हो रहा हूँ।

कितने ही व्यक्ति, जो भविष्य में राज्य-शासक होते, अपना

सब-कुछ त्याग कर बौद्ध हो गये। यह एक बहुत बड़ा रहस्य है कि ऐसे बड़े लोग किस प्रकार समस्त सुख-सम्पत्ति को छोड़, त्यागी बन, कष्ट-सहन करने को प्रस्तुत हो गये।

कपिलवस्तु में लगभग दो महीने तक ठहरकर और अनेक शिष्यों को बौद्ध-संघ में भर्ती कर बुद्ध राजगृह लौट गये।

भ्रमण और उपदेश-प्रदान

जब बुद्ध राजगृह लौटे, तो फिर उसी प्राचीन विल्व-निकुंज में डेरा डाला, जिसे राजा विम्बसार ने समर्पित कर दिया था। इसी प्रकार के और कितने ही दूसरे कुंज धनी-मानियों ने बुद्ध को अर्पण कर दिये थे। परन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिये कि ये कुंज बुद्ध की सम्पत्ति थे। कोई भी बौद्ध-भिक्षु व्यक्तिगत सम्पत्ति रखने का अधिकारी नहीं है। बुद्ध ने भी सर्वदा इस बात पर जोर दिया कि यदि कोई व्यक्ति मुझे कोई पदार्थ भेंट करना चाहे, तो वह संघ को समर्पित करे—मुझे नहीं।

एक बार गौतम की विमाता 'प्रजापति' मुलायम ऊनी वस्त्र बुद्ध को देना चाहती थी; परन्तु उन्होंने कहा कि इसे मुझे न दें, संघ को समर्पित कर दें। इससे मेरा और संघ दोनों का सत्कार होगा।

परन्तु, इन कुंजों में सबसे अधिक प्रसिद्ध 'जैतवन' है, जो कोशल की राजधानी 'सावित्री' के समीप एक सुन्दर और रमणीक स्थान है। वहाँ एक धनाढ्य वणिक् रहता था।

उसका नाम 'अनाथपिंडिका' था। एक समय वह पाँच सौ बैल-गाड़ियों के साथ रकम लेकर भ्रमण कर रहा था। जब वह राजगृह के समीप आया, तो उसने बुद्ध का उपदेश सुना, और वह तत्काल ही बौद्ध हो गया। उसकी यह हार्दिक इच्छा थी कि वह बुद्ध और संघ की सेवा में एक मनोहर वाटिका भेंट करे। परन्तु बुद्ध को देने के योग्य उसे एक भी उपयुक्त फुलवाड़ी नहीं मिली। हाँ, सावित्री-नदी के समीप ही एक फुलवाड़ी थी, जो खास राजकुमार के लिए बनी हुई थी। पर राजकुमार कब अपनी प्रिय वस्तु को बेंचता। वणिक ने राजकुमार को यह संवाद भेजा कि मैं आपको उससे कहीं अधिक दाम दे रहा हूँ, जिससे आप इससे भी अच्छी फुलवाड़ी तैयार करा सकते हैं, मुझे बुद्ध भगवान् को अर्पण करने के लिए आप इसे दे दें।

राजकुमार ने बनिये की एक नहीं सुनी। यहाँ तक कि इससे अधिक दाम लेकर भी राजकुमार ने बेचना स्वीकार नहीं किया। तब, अन्त में, अनाथपिंडिका ने कहा कि आप फुलवाड़ी का उतना ही अंश मुझे देने की कृपा करें, जितने को मैं ताम्बे के सिक्के से ढक सकूँ। फलतः गाड़ी-के-गाड़ी सिक्के लाये जाकर फुलवाड़ी-भर में बिछा दिये गये!

इस प्रकार चतुर वणिक् अपनी इच्छा पूर्ण कर सका। वहाँ पर उसने बुद्ध और अस्सी भिक्षुकों के रहने योग्य एक विहार बनवा दिया। उसके बीच में एक सभा-मंडप था, और चारों ओर गुफा—जिसमें भिक्षुक-गण रहते थे। यह

विहार बहुत ही मनोहर बनकर तैयार हुआ—सब प्रकार से सुसज्जित, और सभा-मंडप में अनेक प्रकार के चित्र! चित्रों में विशेषकर उन प्राणियों के प्रतिरूप थे, जो स्वभावतः सरल और मृदुल होते हैं—जैसे राजहंस, बतख आदि।

अनाथपिंडिका ने राजगृह और सावित्री-नदी के बीच की सड़कों पर, तीन-तीन मील की दूरी पर, एक-एक धर्मशाला बनवाई। जब सब धर्मशालायें बनकर तैयार हुईं, तो उसने बुद्ध को निमंत्रित किया। बुद्ध ने निमत्रण स्वीकार किया। जब यह खबर मिली कि बुद्ध अपने शिष्यों के साथ शीघ्र आवेंगे, तो लोग उत्सव मनाने लगे, और उनके स्वागत के लिए पूरी तैयारी करने लगे।

स्वागत में सबसे आगे अपने पुत्रों के साथ अनाथ-पिंडिका था। इनके पीछे पाँच सौ नवयुवक भिन्न-भिन्न प्रकार की रँगदार पताकायें हाथ में लिये हुए थे। इसके पश्चात् अनाथपिंडिका की दो कन्यायें थीं, जिनके साथ पाँच सौ कुमारियाँ सिर पर कलश रखे हुई थीं। फिर उसके बाद अनाथपिंडिका की स्त्री पाँच सौ स्त्रियों के साथ थी, जो अपने सिर पर भिक्षुओं के लिए भोजन की सामग्री लिये हुई थीं। सबके पीछे अनाथपिंडिका स्वयं था, जिसके साथ वस्त्राभूषण से सुसज्जित पाँच सौ सौदागर थे।

सब-के-सब उस जेठ-(Jeta)-वन में जाकर बुद्ध के सन्मुख पहुँचे। एक सोने का ठिकरा (bowl) लाया गया और वणिक ने बुद्ध के हाथ पर जल ढालते हुए कहा—

मैं जेठ-विहार को बुद्ध भगवान् की सेवा में अर्पण करता हूँ—बौद्ध-संघ को समर्पण करता हूँ—बौद्ध-संघ के वर्त्तमान एवं भावी अनुयायियों को अर्पण करता हूँ।

यह समर्पण अवश्य ही महत्वपूर्ण था। यह इससे स्पष्ट प्रकट होता है कि कई बार बुद्ध भगवान् ने वर्षा-ऋतु को इसी विहार में बिताया था। जब वर्षा-ऋतु समाप्त होती और शरद-ऋतु का आगमन होता था, तो भिक्षुगण उपदेश देने के उद्देश्य से बिलग हो जाते और भिन्न-भिन्न दिशाओं में घूम-घूमकर धर्म-प्रचार करने लगते थे। परन्तु, फिर जब वर्षा का आरम्भ होने लगता, तो किसी विहार में आकर चातुर्मास बिताते थे। ये भिक्षु गाँवों में भी जाते थे।

चातुर्मास के इन चार महीनों में भिक्षु-गण विहार में रह कर शान्ति-पूर्वक धर्म और सदाचार की शिक्षा का अभ्यास किया करते थे। बुद्ध के कितने ही प्रसिद्ध उपदेश इसी चातुर्मास में श्रवण-गोचर हुए थे, जिस समय कि वह साधारणतः किसी विहार में ही रहकर अपना समय व्यतीत करते थे।

कितने ही मनुष्य सोचते हैं कि बुद्ध ने अपना जीवन शान्त भाव से ध्यान में निमग्न रहकर ही बिताया। परन्तु सच बात तो यह है कि उनके समान कार्यशील व्यक्ति शायद ही कोई हुआ हो। जिस समय से उन्हें ज्ञान प्राप्त हुआ और जब तक वह जीवित रहे, इसके बीच का सारा समय केवल लोकोपकारक कार्यों से ही परिपूर्ण था। उन्हें साँस लेने की भी फुरसत नहीं मिलती थी।

जिस समय उन्होंने कपिलवस्तु छोड़ा था, उनकी अवस्था २६ वर्ष की थी। इसके बाद उन्होंने ६ वर्ष व्रतोपासना और तपस्या में बिताया था। इस हिसाब से वह लगभग ३५ वर्ष की अवस्था से उपदेशक का कार्य करने लगे थे। इसके बाद का समय सदा कठिन परिश्रम में ही बीता। वह आगे के ४५ वर्षों तक—क्योंकि वह ८० वर्ष की उम्र तक जीवित रहे थे—अपने धर्म का प्रचार करते रहे। कारण, उन्हें यह विश्वास था कि इस धर्म से मानव-जाति का वास्तविक कल्याण होगा, इसी से मनुष्यों को मुक्ति मिलेगी—उन्हें निर्वाण प्राप्त होगा।

बुद्ध सब प्राणियों पर दया रखते थे। उनकी यह इच्छा थी कि मेरे अनुभव-सिद्ध सत्य के ज्ञान से सब प्राणी लाभ उठावें।

इस प्रकार व्याख्यान देते उनके चार वर्ष बीत गये। चौंतीसवें साल में उनको यह ज्ञात हुआ कि राजा शुद्धोदन मृत्यु-शय्या पर हैं। यह खबर उन्हें कपिलवस्तु के एक दूत द्वारा उस समय मिली थी, जब वर्षा-ऋतु में वह मगध में अपना प्रचार-कार्य कर रहे थे। खबर पाते ही वह अत्यन्त शीघ्रता से कपिलवस्तु की ओर चल पड़े।

वहाँ जाने पर उन्होंने अपने पिता को जीवित पाया। उस समय राजा शुद्धोदन ६७ वर्ष के हो चुके थे। अपने अंतिम समय में वह पुत्र-दर्शन के लिए अत्यन्त व्यग्र थे।

उनको इस बात का बहुत दुःख था कि बुद्ध ने मेरे कहने

पर भी चक्रवर्त्ती राजा होना स्वीकार नहीं किया। वह अपना सर्वस्व भी त्यागने को प्रस्तुत थे—यदि बुद्ध राजा होना स्वीकार कर लेते। वह बुद्ध को इस वेश में—गेरुआ वस्त्र धारण किये, हाथ में ठिकरा लिये, सिर मुँड़ाये—कभी देखना पसन्द नहीं कर सकते थे। अपने प्राण से भी प्रिय पुत्र को इतने कष्ट और इतनी दरिद्रता की अवस्था में देखकर वह कब सुखी हो सकते थे? परन्तु, धीरे-धीरे वह बुद्ध के महत्व-पूर्ण उपदेशों को समझने लगे, और अन्त में वह भी इसी मार्ग के पथिक हो गये।

बुद्ध के पहुँचने के बाद थोड़े ही दिनों बाद राजा स्वर्ग को सिधारे। उनकी अन्त्येष्टि-क्रिया समाप्त हुई। जब श्राद्धादि सब कार्य समाप्त हो गये, तब वहाँ से विदा होकर बुद्धदेव मगध पहुँचे।

एक दिन बुद्ध की विधवा विमाता मगध में आ पहुँचीं। उन्होंने बुद्ध के साथ वार्त्तालाप करने की इच्छा प्रकट की। यह वही महारानी 'प्रजापति' थीं, जिन्होंने बुद्ध को—उनकी माता के मरणोपरान्त—अपने पुत्र के समान ही पाला-पोसा था। जब बुद्ध प्रथम बार कपिलवस्तु गये थे, तो 'प्रजापति' और अन्यान्य शाक्यवंशीय स्त्रियाँ भिक्षुणी होने के लिए अनुमति माँग रही थीं। वे अपना ऐश-आराम छोड़ने को प्रस्तुत थीं—गेरुआ वस्त्र पहनने और भिक्षु के समान अपना जीवन व्यतीत करने को उद्यत थीं; परन्तु बुद्ध ने उन्हें संघ में सम्मिलित करने से अस्वीकार कर दिया। स्पष्ट कह दिया—अपने

घर में ही मोक्ष को ढूँढ़ो। साफ कपड़े से ही काम चलेगा, गेरुआ वस्त्र की आवश्यकता नहीं है। भिक्षुकों के कठिन व्रत की ओर मत झुको, शुद्ध और पवित्र जीवन व्यतीत करो। इसी से शान्ति और आनन्द मिलेगा।

राजा शुद्धोदन की मृत्यु के अनन्तर 'प्रजापति' और दूसरी स्त्रियाँ, जिनमें एक 'यशोधरा' भी थी, एक बार फिर संघ में प्रविष्ट होने के लिए बुद्धदेव से अनुनय-विनय करने चलीं। सब ने केश कटवा डाला, मोटे कपड़ों को गेरुआ रँग में रँग कर पहन लिया, और भ्रमण करते-करते बुद्ध के पास मगध में जा पहुँचीं।

सब स्त्रियाँ चलते-चलते थक गई थीं। उनके कपड़े चिथड़े हो गये थे; क्योंकि उन्हें जंगल होकर आना पड़ा था। परन्तु जब 'प्रजापति' ने संघ में सम्मिलित होने के लिए आज्ञा माँगी, तो बुद्ध ने फिर वही पुराना उत्तर दिया। इस कारण वह दुःखित होकर वहाँ से चली आईं। आकर सदर दरवाजे पर बैठ गईं—बड़ी व्याकुलता से अश्रुधारा बहाने लगीं।

'आनन्द' ने प्रजापति को उस अवस्था में देखा। बड़े आदर से उनके रोने का कारण पूछा। वह अत्यन्त दयालु-हृदय व्यक्ति थे। बुद्ध उन्हें अपनी आत्मा से अधिक मानते थे। वह सीधे बुद्ध के समीप जाकर प्रजापति को संघ में सम्मिलित करने के लिए सिफारिश करने लगे।

बुद्ध यह नहीं चाहते थे स्त्रियाँ संघ में शामिल हों, तथापि उन्होंने इच्छा के विरुद्ध आज्ञा दे दी। स्त्रियाँ इस आज्ञा से

बहुत हर्षित और सन्तुष्ट हुई। उन लोगों ने अपने पूर्व के सुख-ऐश्वर्य को तिलांजलि देकर इस कठिन व्रत को स्वीकार किया।

इस प्रकार भिक्षुणियों का संघ भी स्थापित हुआ। उसमें कितनी ही स्त्रियाँ—जिन्हें यह पक्का विश्वास हो गया कि सांसारिक सुख क्षणिक है—सम्मिलित होने लगीं। उनकी संख्या भी धीरे-धीरे बढ़ने लगी। उनमें 'सावित्री'-नगर की 'केशगोतमी' भी थी।

बुद्ध ने इन भिक्षुणियों को जो धर्मोपदेश दिया था, वह 'सर्षप-कथा' के नाम से विख्यात है।

'केशगोतमी' के एक बालक था। वह बीमार हुआ और मर गया। उस समय गोतमी की उम्र अधिक नहीं थी। इस लिए बालक की मृत्यु से उसे बहुत अधिक दुःख हुआ; क्योंकि उसकी पहली सन्तान थी। वह अपने पुत्र को इतना अधिक प्यार करती थी कि उसके मरने के बाद भी उसे गोद में ले इधर-उधर घूमकर लोगों से उसके लिए दवा माँगने लगी।

उसकी अवस्था देखकर सब ने कहा कि अब औषध से कुछ काम नहीं चलेगा। परन्तु उसे सन्तोष कहाँ था। वह बार-बार एक घर से दूसरे घर में जा-जाकर औषध माँगने लगी।

उसकी ऐसी अवस्था देखकर एक भिक्ष को दया आई। उसने गोतमी से बुद्ध के पास जाने के लिए अनुरोध किया। तब वह लड़के को लेकर जेठ-वन में बुद्ध के पास पहुँची। बड़े

नम्र भाव से बुद्ध को प्रणाम करके अपने मृत बालक के लिए दवा माँगा।

बुद्ध ने उत्तर दिया—हाँ, यदि तुम मुझे किसी ऐसे घर से, जहाँ कोई भी व्यक्ति—मर्द या औरत, लड़का या बूढ़ा, नौकर या मालिक—न मरा हो, थोड़ा सरसो लाकर दो, तो मैं तुम्हारे पुत्र को जिला दूँगा।

गोतमी अपने मृत बालक को गोद में लेकर सरसो माँगने के लिए उठ खड़ी हुई। एक घर वाले ने कहा कि मेरा स्वामी मर गया है, दूसरे घर वाले ने कहा कि मेरा लड़का मर चुका है, किसी ने कहा कि मेरा नौकर मर गया है, किसी ने जवाब दिया कि मेरा भाई स्वर्गवासी हो गया है। इस प्रकार, उसे एक भी ऐसा घर नहीं मिला, जहाँ किसी की मृत्यु न हुई हो। तब वह धीरे-धीरे बुद्ध की बात को—उनके उपदेश को—समझने लगी। उसकी समझ में आ गया कि मृत्यु अनिवार्य है, संसार में शोक-दुःख स्वाभाविक है।

अन्त में गोतमी ने अपने लड़के को एक जंगल में छोड़ दिया। फिर बुद्ध के समीप आकर कहने लगी—देव! मैं सरसो नहीं ला सकी; क्योंकि मुझे एक भी ऐसा घर नहीं मिला, जहाँ मृत्यु की पहुँच न हो।

बुद्ध ने उस अबला को तब दुःख का तत्व बतलाना शुरू किया। बोले—मनुष्य भूल से क्षणभंगुर सांसारिक पदार्थों में सुख समझने लगते हैं! कभी उन्हें अपना आत्मीय सुखदायक मालूम होता है, कभी वे द्रव्य से सुखी होते हैं, कभी अपने

गाय-बैलों में सुख का आभास पाते हैं। परन्तु प्रबल मृत्यु एकाएक उनके सुख की सामग्री को लेकर चम्पत हो जाती है, और वे मुँह देखते ही रह जाते हैं। यह प्रथम बार नहीं है कि तुम्हें अपने पुत्र की मृत्यु से दुःख हो रहा है; पूर्वजन्मों में भी तुमने कितनी ही बार इससे भी अधिक कष्ट उठाये होंगे, और आगे फिर भी कितनी ही बार तुम्हें कष्ट उठाने पड़ेंगे।

अन्त में गोतमी को यह विश्वास हो गया कि निर्वाण के बिना संसार में वास्तविक सुख, सच्चा आनन्द और पूर्ण शान्ति नहीं मिल सकती। उसने बुद्ध से प्रार्थना की कि मुझे संघ में सम्मिलित होने की आज्ञा दें। बुद्ध ने 'तथास्तु' कहा। फलतः वह शान्ति-पथ पर चलने लगी।

बुद्ध ने कहा—यह रास्ता सीधा है। इस पथ का पथिक निर्विघ्न दिव्य लोक में पहुँचता है। यही भव-सागर पार होने का एकमात्र मार्ग है।

अन्तिम भ्रमण

बुद्धदेव को उपदेशक का काम करते बहुत वर्ष व्यतीत हो गये। वह वृद्ध और शक्तिहीन हो गये। पर फिर भी गाँव-गाँव भ्रमण कर उपदेश देते थे। यदि कोई मनुष्य दुःख में फँसा मिल जाता, तो उसके साथ पूरी सहानुभूति प्रगट करते। इसी प्रकार साल-भर कार्य करते ही रहते थे। जब वर्षा-ऋतु आ जाती थी, तो चातुर्मास किसी 'विहार' में बिताते थे; पर उनके लिए वहाँ भी शान्ति नहीं थी । भिक्षुगण तथा कितने

ही मुमुक्षुगण उपदेश सुनने के लिए आ जाया करते थे। ऐसे लोगों को सदा उपदेश सुनाया करते थे।

वर्षाऋतु का अधिक समय प्रायः 'जेठ-वन' में, जो सावित्री-नदी के तट पर है, बीतता था। ज्ञान प्राप्त करने के चालीसवें वर्ष को उन्होंने जेठ-वन में ही बिताया। फिर कभी दूसरी बार वहाँ नहीं गये।

सावित्री से बुद्धदेव राजगृह गये। इस बार भ्रमण करने में उन्हें अतिशय कष्ट हुआ। वहाँ आकर उन्होंने 'गृद्धकूट'-पर्वत के शिखर पर अपना डेरा डाला।

राजा अजातशत्रु ने वृजि-जाति पर आक्रमण करने का विचार किया—वृजिगण गंगा के उत्तर-पार में लिच्छवियों के समीप रहते थे—परन्तु राजा ने पहले बुद्ध से भेंट कर लेना उचित समझा। उसे इस बात की शंका थी कि शायद वह विजयी न हो।

राजा के मंत्री ने बुद्धदेव के पास जाकर दंडवत् किया, कुशल-वृत्तान्त पूछा, फिर राजा का यह सन्देश कह सुनाया कि इस समय वह वृजियों पर आक्रमण करने में दत्तचित्त हो रहे हैं। इसके बाद कुछ प्रश्न भी किये—क्या वह अपने शत्रु पर विजय प्राप्त कर सकेंगे? क्या वह उनका सर्वनाश करने में समर्थ होंगे?

बुद्धदेव ने उत्तर दिया—जब तक वृजिगण में पारस्परिक प्रेम रहेगा, जब तक वे मेरे आदेशानुसार चलते रहेंगे, प्रच-लित आचार-व्यवहार से विमुख न होंगे, गुरुजनों और

साधुओं का सत्कार तथा पवित्र तीर्थ-स्थानों के दर्शन करते रहेंगे, तब तक संसार में ऐसी कोई भी शक्ति नहीं है, जिससे वे पराजित हों।

जब प्रधान मंत्री चला गया, तो बुद्धदेव ने अपने शिष्यों को बुलाया। उन लोगों को एकता और सदाचरण के महत्व इस प्रकार बतलाने लगे—जब तक भिक्षुगण भ्रातृभाव से एक स्थान में एकत्र होते रहेंगे, गुरुजनों की आज्ञा और संघ के नियमों का पालन करते रहेंगे, उन नियमों में किसी प्रकार का परिवर्त्तन नहीं करेंगे, सांसारिक झंझटों में नहीं पड़ेंगे, और निष्प्रयोजन वार्त्तालाप नहीं करेंगे, तब तक बौद्ध-धर्म का ह्रास नहीं होगा—उन्नति ही होती रहेगी।

कुछ काल तक बुद्धदेव गृद्धकूट-पर्वत पर ही रहे। बाद को उन्होंने बहुत-से शिष्यों के साथ राजगृह छोड़ा। वहाँ से सीधे उत्तर की ओर बढ़े। रास्ते में कितने ही गाँव मिलते गये। जब गंगा के तट पर पहुँचे, तो वहाँ एक किला बनते देखा। उसे अजातशत्रु वृजियों के आक्रमण से रक्षा पाने के लिए बनवा रहा था। वही स्थान, जहाँ किला बन रहा था, पीछे 'पाटलिपुत्र' कहलाने लगा। इससे पहले वह स्थान 'कुसुमपुर' कहलाता था। वही 'पाटलिपुत्र' बाद को मगध की राजधानी हुआ।

बुद्धदेव पाटलिपुत्र होकर गंगा पार हुए थे। उस किले को देखते हुए, गंगा पार कर, 'वैशाली' पहुँचे। वहाँ एक बाग में ठहरे। वर्षा-ऋतु का आगमन हो चुका था। एकाएक वह

रोग-ग्रस्त हो गये। क्रमशः बहुत निर्बल हो चले। शरीर में अधिक दर्द होने लगा। परन्तु, धन्य साहस! एक बार भी मुँह से 'आह!' तक न की।

परम प्रिय शिष्य 'आनन्द' सदा साथ रहते थे। उन्हें शंका होने लगी कि शायद अब गुरुदेव (बुद्ध) अधिक दिन तक जीवित नहीं रहेंगे। परन्तु बुद्ध क्रमशः आरोग्य लाभ करने लगे। एक दिन 'आनन्द' उन्हें आनन्दित पाकर, विहार के बाहर ही, उनके समीप बैठकर कहने लगे—इधर जब आप बीमार हो गये थे, तो मुझे आशंका होती थी कि शायद अब आप इस संसार में न रहेंगे।

बुद्ध ने कहा—आनन्द! तुम्हारे गुरुदेव ८० वर्ष के हो चुके। उनका शरीर झुक गया है। वह निर्बल हो गये हैं। जिस प्रकार पुरानी बैलगाड़ी रस्सियों से कसी-बँधी बहुत कठिनता से कुछ अधिक समय तक रखी जा सकती है, उसी प्रकार यह शरीर भी अधिक यत्न से ही ठहरा हुआ है। आनन्द! मैं वृद्ध हो गया हूँ। मेरी यात्रा का अब अन्त हो रहा है। दुःखी मत होओ। सत्य की शरण में रहो।

बुद्धदेव को यह मालूम हो गया कि मेरी मृत्यु अब निकट आ रही है। इसलिए उन्होंने 'आनन्द' से कहा कि वैशाली के आसपास रहने वाले भिक्षुगणों को एकत्र करो।

जब भिक्षु आ गये, तो बुद्ध ने उन लोगों से कहा कि आप लोग इस पवित्र धर्म को मानव-जाति के उपकारार्थ सर्वत्र प्रचारित करें।

जब वर्षा-काल समाप्त हो गया, वह निकटवर्त्ती गाँवों में भ्रमण करने लगे। वैशाली से जब वह बिदा होने लगे, तो टकटकी लगाकर नगर की ओर देखते रहे; क्योंकि वह समझते थे कि वैशाली के दर्शन इस जीवन में अब फिर न होंगे। वहाँ से वह उत्तर-पश्चिम की ओर चले। बीच में कितने ही गाँव मिले। रास्ते में 'पम्पापुर' मिला, जहाँ 'चन्द्र' नाम का एक कसेरा रहता था। बुद्धदेव वहीं एक आम्र-कुंज में ठहर गये।

जब चन्द्र को यह खबर मिली कि बुद्धदेव एक आम के बगीचे में आकर ठहरे हुए हैं, तो उसने उनको तथा उनके शिष्यों को निमंत्रण देकर अपने घर बुलाया। प्रातःकाल होते-होते उसने भोजन की पूरी तैयारी कर ली। भोजन की सामग्री में भात, ठकुआ, तस्मै आदि पदार्थ थे। सब सामान तैयार होने पर बुद्धदेव को वह स्वयं बुलाने चला।

भिक्षुगण एक ही बार भोजन करते हैं—वह भी प्रातःकाल और दोपहर के बीच में। इस हेतु अगर कोई व्यक्ति किसी भिक्षु को भोजन कराना चाहे, तो वह उन्हें प्रातःकाल में ही खिलाता है।

बुद्ध अपने शिष्यों के साथ चन्द्र के घर आये। जब भोजन की सामग्री खाने के लिए रखी जा चुकी, तो 'चन्द्र' गुरुदेव के समीप उपदेश सुनने के लिए बैठ गया।

उसी दिन बुद्धदेव की तबीयत कुछ खराब हो गई, तथापि संध्याकाल तक वह 'कुशीनारा' के लिए प्रस्थान कर चुके,

जो पम्पापुर से सटा हुआ दक्षिण में है। रास्ते में वह कई जगह ठहरे; क्योंकि अब वह थोड़ी दूर भी नहीं चल सकते थे। उनका अन्तिम समय निकट आ गया!

चलते-चलते वह एक पेड़ के नीचे बैठ गये। पास में ही एक नदी बह रही थी। उन्होंने 'आनन्द' से कहा कि मुझे बहुत प्यास लगी है, पानी लाओ। परन्तु इसके कुछ ही देर पहले पाँच सौ बैलगाड़ियाँ उस नदी को पार कर चुकी थीं; इसलिए 'आनन्द' ने सोचा कि अभी पानी लाना व्यर्थ है, क्योंकि गदला पानी पीने के लायक न होगा।

'आनन्द' यही सोचकर ठहर गये। उन्हें आगे न बढ़ते देख बुद्ध ने लगातार दो बार फिर पानी लाने के लिए कहा। तब वह पानी लाने के लिए आगे बढ़े। उन्होंने देखा कि पानी एकदम निर्मल है। अब तो उनके आश्चर्य की सीमा न रही! मन-ही-मन सोचने लगे—यह अप्राकृतिक घटना कैसी? गुरुदेव निश्चय ही महान् पुरुष हैं।

'आनन्द' स्वच्छ जल लेकर बुद्ध के पास लौटे। बुद्ध ने खूब जल पिया। इसके बाद वह उसी नदी के तट पर ठहर गये। अपने शिष्यों के साथ उस सुन्दर नदी में स्नान करने के लिए गये। कुछ दूर पर एक आम का बगीचा था—धूप से बचने के लिए वहीं चले गये।

इस प्रकार बहुत कष्ट सहते हुए वह 'कुशीनारा' पहुँचे। वह गाँव जंगल के बीच में था। उसके चारो ओर जंगल-ही-जंगल नजर आते थे। मकान सब मिट्टी के बने हुए थे। पास

में ही शाल-वृक्ष का एक बगीचा था। 'आनन्द' ने एक चारपाई बनाई। वह दो वृक्षों के बीच में रखी गई—एक वृक्ष उत्तर और दूसरा दक्षिण में था। उन दोनों वृक्षों में फूल लग गये! बुद्ध के शरीर पर पुष्पवर्षा होने लगी!

इस दृश्य को देखने के लिए देवतागण आकाश से उतर पड़े—दुन्दुभी बजाने लगे, और बुद्ध तो वहीं शान्त-चित्त लेटे हुए थे। फिर वह 'आनन्द' से वार्त्तालाप करने लगे। बातचीत का विषय यह था कि उनकी मृत्यु के बाद 'संघ' किस प्रकार से कार्य करे, और भिक्षुगण किन-किन नियमों का पालन करें, जिससे बौद्ध-धर्म की—जो प्राणी-मात्र की भलाई चाहता है—उन्नति हो

जब वार्त्तालाप समाप्त हो गया, तो 'आनन्द' शोकाभिभूत हो गये, यह देखकर कि गुरुदेव संसार से बिदा हो रहे हैं। वह भक्तिवश एकान्त स्थान में जाकर रोने लगे—आजन्म के साथी, मित्र और उपदेशक—आज बिदा हो रहे हैं! कलेजा क्यों न फटे!

बुद्धदेव ने पूछा—'आनन्द' कहाँ है?

आनन्द को बुलाने के लिए एक भिक्षु को भेजा। आनन्द आये। बुद्ध कहने लगे—आनन्द! रोते क्यों हो? चुप रहो। संसार में ऐसा ही होता आ रहा है। जिनके साथ हम संसार में रहते हैं, उनसे बिदा होना निश्चित-सा है—चाहे यह शीघ्र हो अथवा कुछ विलम्ब से। यह भौतिक—सांसारिक—पदार्थों का सहज स्वभाव है; जिसकी उत्पत्ति होती है,

उसका विनाश भी होता है। इसके विपरीत होगा ही क्या? आनन्द! तुम मेरे समीप बहुत वर्षों तक रहे। तुमने अपने प्रेम और दयालुता के वश बहुत-कुछ किया। तुम्हारा प्रेम मेरे प्रति सदा एक-साँ रहा। यत्नशील बने रहो—प्रेम और दया करते रहो। तुम भी शीघ्र ही निर्वाण प्राप्त करोगे।

इसके बाद बुद्धदेव ने उपस्थित भिक्षुओं से 'आनन्द' के गुणों का कीर्त्तन किया। फिर 'आनन्द' से कहा—जाकर कुशीनारा के लोगों को इसकी सूचना दो कि मैं शालवृक्ष के बगीचे में हूँ, और मेरा अन्तिम समय आ पहुँचा है।

कुशीनारा के प्रधान-प्रधान व्यक्ति मंत्रणा-गृह में थे। वहाँ जाकर 'आनन्द' ने उन लोगों से कहा कि गुरुदेव कल भोर होते-होते शरीर त्याग देंगे।

यह समाचार नगर में फैल गया। लोगों के दुःख का ठिकाना न रहा। कितने तो चीख मारकर रोने लगे। कितने रोते-रोते जमीन पर गिर गये। स्त्रियों ने अपने बँधे हुए केश खोल दिये।

इस बात को सोचकर कि संसार का ज्ञान-दीप आज बुझ रहा है, सब लोग शोकाकुल हो गये। कुशीनारा के निवासी एक-एक कर रात-भर बुद्धदेव के अन्तिम दर्शन करने के लिए आते रहे।

'सुभद्र' नाम का एक ब्राह्मण उस समय कुशीनारा में ठहरा हुआ था। वह नवयुवक और विद्वान् था। अपने धर्म के विषय में उसे कई शंकायें थीं। इसलिए वह बुद्धदेव के

साथ वार्त्तालाप करने को बहुत इच्छुक था। वह भी उस शाल-वृक्ष के समीप आया, जहाँ बुद्धदेव मृत्यु-शय्या पर लेटे हुए थे। परन्तु 'आनन्द' ने उसे बुद्ध के पास नहीं जाने दिया; क्योंकि उसके वार्त्तालाप से बुद्धदेव की शान्ति भंग होने की आशंका थी। आनन्द ने कहा—आप उन्हें दिक न करें, वह थके हुए हैं।

बुद्धदेव ने यह वार्त्तालाप सुन लिया। उन्होंने उस ब्राह्मण को अपने पास बुला लिया। वह ब्राह्मण बहुत नम्र भाव से उनके पास पहुँचा, और उन्हें दंडवत् किया।

ब्राह्मण ने पूछा—हिन्दू-धर्म में कितने ही मार्ग हैं; पर उनमें कौन-सा मार्ग सत्य है, यह मुझे बतलाने की कृपा करें।

बुद्ध ने कहा—तुम शंका करते जाओ, मैं समाधान करता जाऊँगा। ऐसा हीं हुआ। बुद्ध के उत्तर का सारांश यह था कि सच्चा धर्म पुण्य देने वाला होता है। उससे सत्कर्म करने में जी लगता है। उसी से शान्ति मिल सकती है।

सुभद्र की शंकायें दूर हो गईं। वह बौद्ध हो गया। उसने अन्त में बहुत श्रद्धापूर्वक कहा—आपने मुझे उसी प्रकार में सत्य-पथ दिखलाया है, जिस प्रकार भूले हुए को कोई रास्ता दिखलाता है, अथवा अन्धकार को दूर करने के लिए कोई रोशनी जलाता है। अब मेरी यही प्रार्थना है कि मैं आपके शिष्यों की श्रेणी में आना चाहता हूँ।

'आनन्द' ने उसे बुद्ध की आज्ञा से अपने संघ में सम्मिलित कर लिया। पहले उसका मुंडन कराया, फिर स्नान कराया,

तब गेरुआ वस्त्र पहनाया, और इसके बाद उसने 'त्रिशरणम्' पढ़ा—मैं बुद्ध की शरण में आता हूँ, सत्य की शरण में आता हूँ, संघ की शरण में आता हूँ।

यह संस्कार होने के उपरान्त वह बुद्ध के समीप आकर बैठ गया। वही बुद्ध का अन्तिम शिष्य था। उसी को बुद्ध ने स्वयं बौद्ध-धर्म की दीक्षा दी थी।

जब 'आनन्द' के साथ बुद्ध बातचीत कर चुके, तब उन्हों ने पूछा—क्या कोई ऐसा व्यक्ति यहाँ उपस्थित है, जिसे अपने धर्म के विषय में किसी प्रकार की शंका हो? यदि कोई उपस्थित हो, तो वह निर्भीकता-पूर्वक अपनी शंका प्रगट कर सकता है।

परन्तु कोई कुछ नहीं बोला। फिर बुद्धदेव ने इसी प्रश्न को दुबारा पूछा। जब किसी ओर से कुछ आवाज नहीं आई, तो उन्होंने फिर एक बार और पूछा। इस बार भी सन्नाटा छाये रहा।

शिष्यगण रात-भर जागकर बुद्धदेव की रखवाली करते रहे। रात के तीसरे पहर में उसी शालवृक्ष के नीचे संसार के सर्वश्रेष्ठ उपदेशक ने अपना शरीर त्याग दिया!

× × × ×

'कुशीनारा' के लोगों ने बुद्ध भगवान् के देहावसान के अवसर पर उतनी ही भक्ति और श्रद्धा प्रकट की, जितनी वे किसी बड़े-से-बड़े राजा के लिए करते। गाँव के रईस लोग उस शालवृक्ष के समीप जलूस साजकर चले। उनके हाथों

में फूल की मालायें, धूप, चन्दन और अनेक प्रकार की दूसरी सामग्रियाँ थीं। साथ-साथ भिन्न-भिन्न प्रकार के बाजे बज रहे थे।

जहाँ पर शव था, वहाँ एक छोटा-सा शामियाना खड़ा किया गया। उसमें कमल के फूल की मालायें लटकाई गईं। दिन-भर उत्सव के बाजे बजते रहे। लोग स्तुति-पाठ करते रहे। समयोचित संस्कार को लोगों ने अच्छी तरह किया।

इसी बीच में शव के दाह-कर्म का प्रबन्ध हो रहा था। जब सब हो चुका, तब आठ मध्यस्थों ने शव को उठा लिया। उत्तर तरफ के फाटक से होते हुए उन लोगों ने नगर में प्रवेश किया। नगर में चारों ओर भली प्रकार घूमकर पूरब ओर के फाटक से निकले। अन्त में उस स्थान में पहुँचे, जहाँ अंत्येष्टि-क्रिया (शव-दाह) का प्रबन्ध किया गया था।

नगर की गलियों में लोगों की भीड़ बहुत अधिक थी। जब शव नगर होकर जा रहा था, तो उस पर लोगों ने सुन्दर और सुगन्धित फूलों की खूब वर्षा की। उस समय 'रथी' को लोग बहुत धीरे-धीरे ले जा रहे थे—इसलिए कि प्रत्येक मनुष्य को भगवान् बुद्धदेव के शव के दर्शन हों।

जब अग्नि-संस्कार हो चुका, तो अस्थि-संचय किया गया। उसे भस्म के साथ सबों ने मंत्रणा-गृह में रखा। उस पवित्र स्थान की रक्षा के लिए, जहाँ अस्थि और भस्म का संचय किया गया था, कुशीनारा के वीर योद्धाओं ने अपने-अपने धनुष को उस स्थान के चारों ओर गाड दिया।

फिर अपने-अपने वाण और भाले की सहायता से उस स्थान को अच्छी तरह घेर डाला। ऐसा करने से वह स्थान चारों ओर से टट्टर से घिरा मालूम पड़ता था।

मंत्रणा-गृह के बाहर हाथी, घोड़े और रथ की कतारें थीं। सात दिन तक उस स्थान में लोग दर्शनार्थ आते-जाते और फूल-माला चढ़ाते रहे। बराबर नाच-गान भी होता रहा।

जब मगध के राजा अजातशत्रु को बुद्ध की मृत्यु का समाचार ज्ञात हुआ, तो उसने 'कुशीनारा' वालों को, थोड़ी-सी चिता-भस्म (बुद्ध का 'फूल') देने के लिए, कहला भेजा; क्योंकि उसने भगवान बुद्ध का स्मारक बनवाना विचारा था। उसकी इच्छा थी कि जहाँ स्मारक बने, वहाँ प्रतिवर्ष उत्सव मनाया जाय। इसी प्रकार वैशाली वालों ने भी भस्म के लिए प्रार्थना की। कपिलवस्तु के शाक्यों ने भी भस्म माँगी।

अपने जीवन-काल में ही बुद्ध बहुत विख्यात हो गये थे। इसलिए उन सब स्थानों के लोग, जहाँ बौद्ध-धर्म का प्रचार था, उनकी मृत्यु सुनकर दुःखित हुए। वे सब लोग उनकी स्मृति में—स्मारक-स्वरूप—ऐसा काम करना चाहते थे कि लोग उन्हें भूल न जायँ!

उस समय कुशीनारा में आठ भिन्न-भिन्न स्थानों के दूत बुद्ध की भस्म लेने के लिए आये। परन्तु कुशीनारा-निवासियों ने उन्हें भस्म देना, आरम्भ में, अस्वीकार कर दिया। उनका विचार था कि बुद्धदेव का देहावसान जब इस गाँव में हुआ है, तो भस्म भी इसी स्थान में रहे।

परन्तु, केवल 'नहीं' कह देने से काम न चला। बुद्धदेव को अनेक देश के लोग गुरुवत् समझते थे। सब लोग उनका आदर-सत्कार करना और उनके प्रति श्रद्धा-भक्ति प्रकट करना अपना-अपना कर्त्तव्य समझते थे। फलतः वाद-विवाद आरम्भ हुआ। बात बहुत बढ़ गई।

परन्तु एक ब्राह्मण ने, जो बौद्ध-धर्मावलम्बी ही था, बड़ी निपुणता के साथ विवाद-व्यस्त लोगों के सन्मुख अपना उदार विचार प्रगट किया। उसने कहा—इससे बढ़कर दुःख की बात और क्या हो सकती है कि हम लोग उस महान् व्यक्ति की पवित्र भस्म के लिए लड़ें, जिसने समस्त संसार को शान्ति का शुभ सन्देश दिया—सहन-शीलता का पवित्र पाठ पढ़ाया।

अन्त में यह निर्णय हुआ कि भस्म के बराबर-बराबर आठ भाग किये जायँ, और आठो स्थान के दूतों को एक-एक भाग दे दिया जाय।

इन्हीं आठ स्थानों में, जहाँ-जहाँ भस्म भेजी गई, एक-एक विशाल स्तूप बना। स्तूपों का आकार गोल बना, पर देखने में ऊँचा। इन स्तूपों का पता कई स्थानों में लगा है, कहीं-कहीं खुदाई भी हुई है। सबसे बड़ा स्तूप कपिलवस्तु में है, जिसका निर्माण शाक्यवंश वालों ने किया था। एक स्तूप—बहुत प्राचीन—सारनाथ (काशी) में भी है।

उक्त आठ स्थानों के अतिरिक्त दूसरी जगहों में भी स्मारक स्तूप निर्माण किये गये। परन्तु उनमें बुद्धदेव की भस्म नहीं

थी। फिर भी जहाँ स्तूप रहता है, वहाँ लोग दर्शनार्थ आते हैं, क्योंकि उसे लोग तीर्थ-स्थान ही मानते हैं। वहाँ श्रद्धा-पूर्वक पत्र-पुष्प चढ़ाकर लोग अपने मन को सन्तुष्ट करते हैं। लंका में इसी प्रकार का एक स्तूप है, जिसे वहाँ के रहने वाले 'दागब' कहते हैं।

कथा-कहानी

जिन भिक्षुओं के विषय में पहले ऊपर लिखा जा चुका है, वे अत्यन्त उत्साही कार्यकर्त्ता थे। यह उन्हीं के परिश्रम का फल है कि सुदूर देशों में भी बौद्ध-धर्म का प्रचार हुआ। ईसाई और इसलाम धर्म के समान बौद्ध-धर्म का प्रचार भी प्रचारकों और उपदेशकों द्वारा ही हुआ है। जब से इस धर्म का प्रादुर्भाव हुआ, तभी से इसके प्रचारकों ने दूसरों को अपने धर्म का अनुयायी बनाने की चेष्टा की। उन लोगों ने इस धर्म से लाभ उठाने के लिए संसार को खूब प्रोत्साहित किया।

पाठकों को स्मरण होगा कि बुद्ध-भगवान् ने अपने साठ शिष्यों को धर्म-प्रचार करने के लिए चारों ओर भेजा था, जो—धनी-दरिद्र, स्त्री-पुरुष, साक्षर-निरक्षर—सबको उपदेश देते थे।

बुद्ध भगवान् का उपदेश देने का ढंग निराला ही था। गाँव वालों को कठिन-से-कठिन विषय साधारण कथा-कहानी द्वारा सहज में ही समझा देते थे। जब वह जेठ-वन में रहते

थे, तो ग्रामीण उनका उपदेशामृत पान करने के लिए दूर-दूर से आते थे। चाँदनी रात में—जब चन्द्रमा आकाश में उदय होकर लोगों के आनन्द को द्विगुणित करते थे, और भग-जोगनी (जुगनू) पेड़ों के नीचे अन्धकार में जगमग-ज्योति छिटकाती थी—बुद्ध भगवान् शान्ति-पूर्वक अपने 'विहार' में, गाँवों से आये हुए लोगों के बीच बैठकर, साधारण किस्से-कहानी द्वारा बड़े-बड़े मार्मिक उपदेश देते थे।

वह उन सब लोगों को कर्म का अटल सिद्धान्त—अर्थात् अच्छे कर्मों के फल अच्छे और बुरे के बुरे होते हैं—समझाते थे। उनकी कितनी ही कहानियों का प्रचार पाश्चात्य देशों में है। 'एसप्स-फेब्ल्स्' (Aesops Fables) नाम्नी पुस्तक की कहानियों के आधार भारतीय ग्रंथ* ही हैं, जिनमें से कितनी ही कहानियाँ बुद्धदेव ने 'जेठ-वन' में कही थीं ! इस प्रकार जिन कहानियों को लोग 'ऐसप्स-फेब्ल्स्' में पढ़ते हैं, वे भारत-वासियों को आज से २००० वर्ष पूर्व भी ज्ञात थीं।

इन कहानियों में विशेषता यह है कि इनमें से प्रत्येक कहानी से कुछ-न-कुछ नैतिक उपदेश अवश्य मिलता है—सच्चे और बुद्धिमान की जीत होती है, और अज्ञानी तथा मूर्ख कष्ट भोगते हैं। और साथ ही, इनमें यह भी दिखलाया गया है कि 'जीव' अनेक जन्मों के अनन्तर धीरे-धीरे उन्नति करता और निकृष्ट योनियों को पार करता हुआ अन्त में निर्वाण-पद

* 'पंचतंत्र' नामक संस्कृत-ग्रन्थ की कितनी ही कहानियाँ 'एसप्स फेब्ल्स्' की कहानियों से मिलती-जुलती हैं।

को प्राप्त कर लेता है, प्रत्येक व्यक्ति अपने परिश्रम का—अपने कार्यों का—फल भोगता है, वर्त्तमान जीवन पूर्वजन्मों के कर्म का फल है। इस प्रकार, एक जन्म दूसरे जन्म से नितान्त पृथक् नहीं है। हमारा जीवन फूल की एक माला के सदृश है, जिसमें अनेक फूलों के होते हुए भी 'माला' एक ही कहलाती है। ठीक उसी प्रकार, अनेक जन्म धारण करने पर भी, जीवन (माला के समान) एक ही है।

प्राचीन कथाओं में बुद्ध भगवान् के पूर्व-जन्मों के वृत्तान्त भी हैं, जिनमें बुद्ध कभी मनुष्य, कभी बतख, कभी हिरन आदि थे। उन कथाओं में बुद्ध 'बोधिसत्व' के नाम से उल्लिखित किये गये हैं। 'बोधिसत्व' का अर्थ है—वह मनुष्य, जो 'बुद्ध' होने की निरन्तर चेष्टा करता है; पर जिसने अब तक पूर्ण ज्ञान नहीं प्राप्त किया है। उसके प्रत्येक जन्म में भारी सत्कार्य होता है, जिसके फल से वह ज्ञान-प्राप्ति के मार्ग में एक कदम आगे बढ़ता है।

पहली कहानी

हजारों हिरनों का एक झुंड किसी सुन्दर पहाड़ी-घाटी में रहता था। उसका नायक बहुत सुन्दर और भला था। वह अपने अधीनस्थ हिरनों की देखरेख अच्छी तरह से करता था। जब कोई संकट आ पड़ता था, जी-जान से उसे दूर करने की कोशिश करता था।

एक दिन, एक शिकारी, उसी स्थान के समीप, जहाँ वह हिरन रहता था, शिकार खेल रहा था। उस सुन्दर हरिण

और उसके झुंड को उसने देख लिया। तब वहाँ के राजा के समीप जाकर बोला—अमुक स्थान शिकार खेलने लायक है।

राजा उसकी बात सुनकर बड़ा खुश हुआ। बहुत-से लोगों के साथ जाकर उस हरिण के झुंड को घेर लिया। परन्तु झुंड का नायक अपने दल की रक्षा करने के लिए कटि-बद्ध था। बहुत सोचने पर उसे एक उपाय सूझा—यदि सामने वाली नदी को हम पार कर जायँ, तो हमारे प्राण बच सकते हैं, अन्यथा नहीं।

नदी की धारा बहुत तेज थी। हिरन के छोटे-छोटे और कमजोर बच्चे उस नदी को पार नहीं कर सकते थे—प्राण का भय था, लेकिन इस पार रहने से भी काम नहीं चलता था।

वह वीर नायक स्वार्थ त्याग कर उस प्रखर धारा के बीच—अपने साथियों की प्राण-रक्षा के निमित्त—कूद पड़ा। उसने शेष हरिणों से कहा—तुम सब मेरे शरीर पर होकर पार हो जाओ।

एक-एक कर सब हरिण उस वीर की देह पर कूदकर नदी के पार चले गये; परन्तु उनकी चोखी खुरों की चोट से वह आत्मत्यागी नायक बेतरह घायल हो गया। मृत्यु उसके सन्मुख आ गई। तब तक सामने एक हिरन का बच्चा उसे देख पड़ा, जो पीछे छूट गया था।

नायक-हरिण ने उस बच्चे को पुकारकर अपने पास बुला लिया। कहा—अब मैं मर रहा हूँ, शीघ्रता से तुम भी नदी के पार हो ज़ाओ, नहीं तो मेरे मरने के बाद तुम कठिनाई में पड़ जाओगे।

इस प्रकार उस वीर हरिण-नायक ने अपनी जान देकर हजारों के प्राण बचाये। इस सत्कार्य का फल अच्छा हुआ। पुण्य के बल से वह मुक्ति के मार्ग में एक कदम आगे बढ़ा।

दूसरी कहानी

बोधिसत्व का जन्म काशी के एक वणिक् के घर हुआ। जब वह जवान हुआ, तो एक सौ बैलों पर सौदा लेकर वाणिज्य करने के लिए देशान्तर चला। कभी पूरब गया, कभी पश्चिम। इस प्रकार भ्रमण करते हुए व्यापार करना आरम्भ कर दिया।

उसी नगर में एक दूसरे व्यापारी का लड़का था। वह मन्द-बुद्धि था। उसके पास पूँजी भी अधिक नहीं थी। एक बार वे दोनों पाँच-पाँच सौ बैलों पर सौदा लेकर परदेस चले। बोधिसत्व ने विचारा—यदि हम दोनों एक साथ ही चलेंगे, तो अधिक बिक्री नहीं होगी; हो सकता है, किसी-किसी स्थान में खाने-पीने की भी दिक्कत हो।

यह विचार कर उसने अपने साथी से कहा—हम लोगों का साथ-साथ सफर करना अधिक लाभदायक नहीं होगा। या तो तुम आगे चलो, या मुझे ही प्रस्थान करने दो।

उसके साथी ने पहले चलना स्वीकार किया। उसने सोचा—आगे जाने से मुझे ही अधिक लाभ होगा।

उसने चलने की तैयारी की। पाँच सौ बैलों को गाड़ी में जोतकर चला। जिस रास्ते से उसे जाना था, उसमें पानी नहीं मिलता था; क्योंकि यात्रियों को मरुभूमि होकर सफर

करना पड़ता था । उसी रास्ते में राक्षस भी रहते थे, जो पथिकों को ठग कर उनके प्राण ले लेते थे। मरुभूमि में प्रस्थान करने के पूर्व ही उसने अपने नौकरों से कहा—पानी भरपूर ले लो ।

नौकरों ने आज्ञानुसार काम किया । जब वह अपने नौकरों के साथ आधी राह गया होगा कि उसे एक सुन्दर बैल-गाड़ी में बैठा एक व्यक्ति मिला । गाड़ी में दो श्वेत हृष्ट-पुष्ट बैल जुते थे। दस-बारह नौकर उसके पीछे-पीछे चल रहे थे। उनके गले में कुमुदिनी के फूलों की मालायें थी, हाथों में खिले हुए सुन्दर कमल के लाल फूल थे । उनके कपड़े और बाल पानी से तर मालूम होते थे । गाड़ी के पहियों में गीली मिट्टी लगी हुई थी ।

वह मूर्ख सौदागर उस अपरिचित व्यक्ति को देखकर बहुत आनन्दित हुआ । पूछा, क्या आज वर्षा हुई है ?

गुप्त-वेष-धारी राक्षस ने आश्चर्य के साथ उत्तर दिया—वर्षा तो इधर बराबर होती है । यहाँ से कुछ आगे चलकर तुम्हें एक जंगल मिलेगा । उसके समीप एक गाँव देख पड़ेगा। वहाँ पानी की कमी नहीं है—अनेक नदियाँ हैं, जो वैशाख-जेठ में भी नहीं सूखतीं । पोखरे और डाबरों में खिले हुए कमल के फूल मिलेंगे ।

उस मूर्ख सौदागर को राक्षस की बातों पर विश्वास हो गया । सोचा, व्यर्थ यहाँ से पानी ढोकर ले जाने से क्या लाभ?

अपनी मूर्खता के कारण ऐसा सोचकर सब पानी फेक दिया । राक्षस इतना काम कर अपने घर को चलता बना ।

परन्तु तुरत ही सौदागर और उसके साथी अपनी भूल पर पछताने लगे। वे आगे बढ़ते जाते थे; पर कहीं एक बूँद भी पानी नजर नहीं आता था। जब संध्या हुई, तो वे डेरा डाल कर सड़क के किनारे एक स्थान में ठहर गये। किन्तु पानी तो था ही नहीं, रसोई कैसे बनाते? बैल बेचारे प्यासे ही रहे! सब इतने थक गये थे कि एक-एक कर सब सो रहे, कोई भी रखवाली करने के लिए जगा न रहा।

जब रात खूब हो चुकी, तो बहुत से राक्षस आये—सोते हुए मूर्ख सौदागर और उसके साथियों को जान से मार डाला! बेचारे बैल भी मारे गये! उनके मांस नोच-नाच कर राक्षसों ने खूब खाया। हड्डियों का ढेर एक तरफ लगा दिया।

इस प्रकार एक सौदागर की मूर्खता के कारण अनेक प्राणियों के प्राण व्यर्थ गये।

इसके अनन्तर 'बोधिसत्व' डेढ़ महीने पर गाड़ी-बैलों के साथ उसी ओर रवाना हुआ। साथ में नौकर भी थे। जब वह थोड़ी दूर आगे बढ़ा, तो वही राक्षस एक बैलगाड़ी पर उसी तरह सवार देख पड़ा। इस बार भी उसके साथी सब भींगे कपड़े पहने थे। पहले ही की तरह सबों के हाथ में कमल के फूल और गले में सुन्दर मालायें थीं।

उस मूर्ख व्यापारी से जैसी बातचीत हुई थी, वैसी ही बोधिसत्व के साथ भी हुई। किन्तु राक्षस की बातों पर बोधिसत्व को विश्वास नहीं हुआ; क्योंकि राक्षस विश्वास दिलाने के लिए अपनी बातों पर बहुत अधिक जोर देता था,

और दूसरी बात यह कि राक्षस की छाया साधारण मनुष्य की तरह नहीं पड़ती थी।

बोधिसत्व ने सोचा—हो-न-हो यह राक्षस है। इसने जो कुछ कहा है, सब मिथ्या है। मैं इसके फेर में नहीं पड़ूँगा।

राक्षस ने जब बोधिसत्व से पानी फेंक देने के लिए कहा, इसने उत्तर दिया—मैं अपना काम आप ही अच्छी तरह करना जानता हूँ. मुझे तुम्हारी सम्मति की आवश्यकता नहीं है।

इतना सुनकर राक्षस वहाँ से चलते बने। तब बोधिसत्व अपने साथियों से कहने लगा—ये सब-के-सब अवश्य ही राक्षस थे। इनकी बात एकदम झूठी थी। मरुभूमि में पानी? यदि हम लोग किसी गाँव के समीप होते—जहाँ पानी मिलता हो, तो क्या आकाश में बादल के टुकड़े नहीं देख पड़ते? क्या इस वर्षा-ऋतु में मेघ-गर्जन नहीं सुन पड़ता? बादल बहुत दूर से देख पड़ने लगते हैं, मेघ की ध्वनि बहुत दूर से ही सुन पड़ती है। परन्तु हम लोगों ने अब तक तो कुछ नहीं देखा और न सुना ही।

इसके बाद बोधिसत्व अपने साथियों के साथ आगे बढ़ा। आगे जाकर क्या देखा कि बहुत-सी हड्डियों का ढेर लगा है—पास में ही अनाज से लदी पाँच सौ गाड़ियाँ खड़ी हैं।

संध्या के पूर्व ही बोधिसत्व एक सुन्दर स्थान में ठहरा। चारों तरफ से गाड़ियों को घेरकर बीच में डेरा

डाला गया। बैलों को खिला-पिलाकर बीच में ही रखा। उनको रस्सी से गाड़ियों में मजबूती के साथ बाँध दिया। आठ-दस व्यक्ति बोधिसत्व के साथ रात में रखवाली करने के लिए तत्पर हो गये।

जब राक्षस आये, तो उनका साहस न हुआ कि वे इस प्रकार सुरक्षित दल पर आक्रमण करें।

प्रातःकाल हुआ। बोधिसत्व डेरा तोड़कर आगे बढ़ा। उसे इस यात्रा में बहुत अधिक लाभ हुआ। वह लौटकर काशी चला आया।

इससे एक शिक्षा मिलती है—मनुष्य को उचित है कि जिस बात में अपना विश्वास हो, वही काम करे; दूसरों की इधर-उधर की बातें न सुने।

इन प्राचीन कथाओं में विशेषतः स्वार्थ-त्याग के महत्व पर बहुत जोर दिया गया है।

तीसरी कहानी

हजारों वर्ष पूर्व, बोधिसत्व को 'खरगोश' होकर जन्म लेना पड़ा था। वह अपने पशु-मित्रों के साथ किसी पहाड़ पर रहता था। अच्छे स्वभाव के कारण उसको अनेक मित्र मिल गये थे।

एक दिन, उसी राह से—जहाँ खरहा रहता था—एक साधु जा रहे थे। उनको देखकर सब जानवर अपनी-अपनी शक्ति और योग्यता के अनुसार उनकी सेवा करने को उद्यत हुए। सब ने थोड़ा-बहुत भोजन की सामग्री दी। परन्तु बोधिसत्व

ने विचारा—मेरे पास में क्या है जो मैं इन्हें दूँ। मेरे पास तो केवल मेरा शरीर है। अच्छा होता यदि इसी से मैं साधु महाराज की सेवा करता।

यह सोचकर बोधिसत्व पास ही जलती हुई आग में कूद पड़ा। उसका विश्वास था कि मेरा मांस खाकर साधु तृप्त हो जायँगे।

इस त्याग के कारण बोधिसत्व को बहुत पुण्य मिला; क्योंकि आत्म-त्याग से बढ़कर संसार में और है ही क्या?

चौथी कहानी

'बोधिसत्व' एक साधु था। जंगल में रहता था। दुर्दैव से अकाल पड़ा। खेत में अन्न नहीं उपजा। वर्षा नहीं हुई। मैदान में घास भी सूख गई थी। पृथ्वी सूखकर जहाँ-तहाँ फट गई थी।

इतना हो जाने पर भी साधु का ध्यान नहीं टूटा। फिर बाद को आप-से-आप ध्यान टूट गया। उसी समय अपने सामने एक बाघिन और उसके दो बच्चों को देखा। भूख से बच्चे तड़प रहे थे। कभी-कभी जोर-जोर से चिल्ला उठते थे। बाघिन के स्तन में दूध था ही नहीं। वह इतनी कमजोर हो गई थी कि चल नहीं सकती थी। भोजन लाकर बच्चों को देना उसके लिए असम्भव हो रहा था।

साधु को बहुत दया आई। उसने सोचा—यदि किसी प्रकार इन प्राणियों का कष्ट दूर हो, तो मुझे बहुत आनन्द होगा। अच्छा, मैं अपने प्राण देकर इनके कष्ट को दूर करूँगा।

यह सोचकर वह उस भूखों मर रही बाघिन के समीप गया। बाघिन ने झट आक्रमण किया। साधु के प्राण-पखेरू उड़ गये।

इस प्रकार साधु ने अपना प्राण देकर दूसरों की रक्षा की।

पाँचवीं कहानी

'बोधिसत्व' किसी समय बैल के रूप में था। बैल जब बच्चा ही था, तो किसी व्यक्ति ने उसे एक बुढ़िया को दे दिया। वह व्यक्ति उस बृद्धा स्त्री के रुपये धारता था। उसी रुपये के बदले में उसने बछड़ा दे दिया।

बुढ़िया को बछड़े से बहुत प्रेम हो गया। वह उसे अधिकाधिक मानने लगी। उसका नाम 'रामा' रखा। आसपास के लोग भी 'रामा' ही कहकर बछड़े को पुकारने लगे। बछड़ा जहाँ चाहता—घूमता। उसके लिए कहीं कोई रोक-टोक नहीं था। धीरे-धीरे गाँव के लड़के भी उसे प्यार करने लगे। वह किसी को कष्ट नहीं पहुँचाता था।

जब बछड़ा बड़ा हुआ, तो और भी सुन्दर देख पड़ने लगा। उस बूढ़ी औरत को वह माँ के समान समझता था। एक दिन उसने विचारा कि मेरी माँ को दरिद्रता के कारण बहुत कष्ट होता है, वह मुझे अपने पुत्र के समान मानती है; परन्तु मैं उसके लिए क्या कर रहा हूँ; यदि किसी उपाय से मैं उसके लिए थोड़ा भी धन उपार्जन कर दूँ, तो अच्छा हो।

यह सोचकर 'रामा' काम की खोज में चला।

एक दिन सन्ध्या समय वह बुढ़िया अपने घर में बैठी

हुई थी। उसने देखा कि 'रामा' सामने आकर खड़ा है— उसकी पीठ पर एक थैला बँधा हुआ है।

उस थैले को खोलने पर बुढ़िया को एक हजार दु-अन्नियाँ मिलीं। उसको पता लगा कि एक सौदागर इधर आया हुआ था। उसके पास पाँच सौ बैल-गाड़ियाँ थीं। उसे एक नदी पार करना था, पर नदी में पंक इतना गाढ़ा था कि पार जाना असम्भव हो गया। बेचारा सौदागर सोचने लगा कि कोई मजबूत बैल मिल जाय, तो मेरा काम चले। इतने में उसकी दृष्टि 'रामा' पर पड़ी। वह लोगों से पूछने लगा कि यह बछड़ा किसका है—यदि यह मेरी गाड़ियों को नदी हला दे, तो मैं फी गाड़ी दो आने के हिसाब से इसे मजदूरी दे दूँ। उसकी यह बात सुनकर 'रामा' आगे बढ़ा। सौदागर के पास पहुँचकर काम करने की इच्छा प्रगट करने लगा। सौदागर तो ऐसा चाहता ही था। 'रामा' ने खूब जी-तोड़ परिश्रम किया। सौदागर का काम सर गया। वह बड़ा ईमानदार था। उसने मजूरी की रकम 'रामा' की पीठ पर बाँध दी।

जब बुढ़िया को सब बातों का पता लगा, तो अब वह 'रामा' को और भी अधिक प्यार करने लगी। उसके खाने-पीने के लिए पूरी ताकीद रखने लगी। 'रामा' भी समय-समय पर बुढ़िया का उपकार करता रहा। अन्त में वह बूढ़ा होकर मर गया।

इस कहानी के अन्त में यह गीत है—

जहाँ कहीं हो बोझा भारी, अपनी ताकत खोई सारी।
'रामा' का तुम नाम पुकारो, बोझा खिंच जावेगा प्यारो ॥

छठी कहानी

एक बार बोधिसत्व ने हाथी होकर हिमालय-प्रदेश में जन्म लिया। वह ऐरावत हाथी था। अस्सी हजार हाथियों के झुंड का अगुआ था। उसकी माता अन्धी थी—स्वयं घूम-फिर नहीं सकती थी। 'बोधिसत्व' मातृभक्त था। अपनी माता के लिए, अपने साथियों के हाथ, जंगलों में से सर्वोत्तम फल भेज दिया करता था। परन्तु साथी बड़े ही स्वार्थी थे। वे उन फलों को स्वयं ही खा डालते थे।

इस हेतु बोधिसत्व ने वहाँ से कहीं चल देना अच्छा समझा। आधी रात में वह चुपचाप अपनी माता के साथ रवाना हुआ। दोनों ही एक निर्जन स्थान में पहुँचकर पास के किसी खोह में रहने लगे। समीप में ही एक सुन्दर झील थी। वहाँ रहकर वह अपनी माता की रक्षा करता और उसके खाने के लिए नाना प्रकार के पदार्थ लाता था।

एक दिन, जब वह जंगल में घूम रहा था, उसके कान में करुणा-जनक शब्द सुन पड़ा। पश्चात् ज्ञात हुआ कि एक मनुष्य राह भूल गया है—सात दिनों से रास्ता ढूँढ़ रहा है। वह एक पथिक था। घने जंगल में रास्ता भूल गया था। संयोगवश उसकी ऐसी दुर्दशा हो गई थी।

बोधिसत्व ने उससे कहा—डरो मत। घबराने की कोई बात नहीं है। चलो, मैं तुम्हें राह दिखला देता हूँ।

इतना कहकर बोधिसत्व आगे-आगे रास्ता दिखलाता हुआ चला। जब पथिक ठीक मार्ग पर पहुँच गया, तब बोधिसत्व लौटकर घर चला आया, और जब पथिक काशी में अपने घर पहुँचा, तो बोधिसत्व को खूब धन्यवाद दिया।

एक समय में काशी के राजा का हाथी, जिस पर चढ़कर वह घूमते थे, मर गया। राजा के योग्य हथसार में कोई भी हाथी नहीं मिला। शहर में डुग्गी पिटवाई गई कि किसी ने राजा के योग्य यदि कोई हाथी देखा हो, तो उसकी सूचना शीघ्र दरबार में दे।

ईश्वर की इच्छा! उस पथिक के कान में यह बात पड़ी। वह राजा के दरबार में गया। वहाँ राजा के सन्मुख हाथ जोड़ कर खड़ा हुआ। राजा ने उसे अपनी बात कहने के लिए आज्ञा दी। वह बोला—श्रीमन्! यहाँ से बहुत दूर, हिमालय-प्रदेश में, एक 'ऐरावत'-हाथी रहता है, जो हिम के समान श्वेत है। यदि श्रीमान् उस पर चढ़ें, तो और भी सुशोभित देख पड़ें।

राजा ने हाथी को पकड़ने के लिए बहुत-से हाथियों और महावतों को भेजा। उनके साथ वह कृतघ्न पथिक भी भेजा गया। सब लोग उस ऐरावत-हाथी के पास पहुँचे। उस समय वह एक झील में कमल के फूलों को तोड़ रहा था। वह समझ गया कि ये मुझे पकड़ने के लिए आये हैं। सोचने लगा—यदि मैं चाहूँ, तो हजारों हाथियों को अकेले ही खदेड़ सकता हूँ। मेरे बल के सामने इतने घोड़े-हाथी क्या कर

सकते हैं? यदि ये मनुष्यगण छुरियाँ भी चुभा दें, तो मुझे कुछ परवा नहीं है।

इसलिए वह चुपचाप शान्ति-पूर्वक खड़ा रहा और जान-बूझकर पकड़ा गया। सात दिनों में वह काशी पहुँचाया गया।

उसे देखकर राजा बहुत प्रसन्न हुए। उसके लिए सर्वोत्तम साज बनाये गये। गले में तरह-तरह की मालायें पहिनाई गईं।

परन्तु बोधिसत्व भोजन नहीं करता था; क्योंकि अपनी अन्धी माता को भूला नहीं था। बिना माता को भोजन कराये वह स्वयं किस प्रकार भोजन करता? सोचा, जब मेरी माँ वहाँ भूखों मर रही है, तो मैं क्यों खाऊँ।

राजा को मालूम हुआ कि हाथी भोजन नहीं करता है। वह स्वयं उसके पास आये। पुकार कर कहने लगे—कहो जी, तुम भोजन क्यों नहीं करते?

बोधिसत्व ने उत्तर दिया—श्रीमन्, मेरी माँ बूढ़ी और अन्धी है। वह बेचारी पेड़ के नीचे सिर पटकती होगी।

राजा को यह सुनकर बड़ी दया आई। उन्होंने हाथी को छोड़ देने की आज्ञा दे दी। बोधिसत्व अपनी माँ के पास पहुँचा। पुत्र को देखकर माँ बहुत खुश हुई।

सातवीं कहानी

बोधिसत्व का जन्म एक बार एक धनी ब्राह्मण के घर हुआ। जब उसके माता-पिता का स्वर्गवास हो गया, तो वह

विशाल सम्पत्ति का उत्तराधिकारी हुआ। परन्तु उसने सब धन दान कर दिया और संन्यास ग्रहण कर हिमालय की ओर चला।

काशी के तत्कालीन राजा ब्रह्मदत्त थे। रात में उन्हें कई प्रकार के विचित्र शब्द सुन पड़े, जिससे वह चौंक उठे, और अपशकुन समझकर डर भी गये। सबसे पहले उन्हें एक सारस-पक्षी की चिल्लाहट सुन पड़ी। उसके बाद काला कौआ हथसार के फाटक के ऊपर काँव-काँव करने लगा। फिर पतंगों की चुनचुनाहट, और तब कोयल की कुहु-कुहू! पाले हुए हरिण और बन्दर भी जोरों से आवाज़ करने लगे।

आधी रात में इन विचित्र शब्दों को सुनकर राजा बहुत डर गये। प्रातःकाल ज्योतिषियों को बुला भेजा। उन लोगों ने राजा की सब बातों को सुनकर अन्त में कहा—राजन्! आपके ऊपर कोई भारी विपत्ति आने वाली है। देवताओं का कोप आप पर जान पड़ता है। इस हेतु यह आवश्यक जान पड़ता है कि आप एक यज्ञ करें।

पुरोहितों को यज्ञ करने की आज्ञा मिली। यज्ञ की तैयारी होने लगी। इस समय बोधिसत्व घूम-फिरकर हिमालय से चला आया था। काशी के समीप में हो ठहरा हुआ था।

पुरोहितों के किसो शिष्य को यह देखकर बहुत दया आई कि इतने निरपराध जीव व्यर्थ मारे जायँगे। वह बोधि-सत्व के समीप जाकर राजा की घबराहट और यज्ञ की तैयारी

का समाचार कहने लगा। साथ ही, पूछा भी कि आधी रात को राजा के कान में जो विचित्र शब्द पहुँचे थे, उनका अर्थ क्या है।

बोधिसत्व ने कहा कि उन शब्दों में अस्वाभाविक तो कुछ नहीं है, उनसे डरने की कोई बात नहीं है। इस पर उस शिष्य ने बोधिसत्व से—राजा के समीप चलकर इन्हीं बातों को कहने के लिए—प्रार्थना की। किन्तु बोधिसत्व ने उत्तर दिया—मैं तो एक अपरिचित व्यक्ति हूँ। राजा के सन्मुख जाकर यह कहना कि मैं आपके पुरोहितों से अधिक ज्ञान रखता हूँ, सरासर मूर्खता है।

वह शिष्य उठकर खड़ा हुआ, और सीधे राजा के सन्मुख जा पहुँचा। राजा से सब बातें कह सुनाईं। राजा को कुछ कौतूहल मालूम हुआ कि यह व्यक्ति कौन है। वह बोधिसत्व के पास पहुँचे। उनके पूछने पर बोधिसत्व ने कहा—राजन्, आपने जो शब्द सुने, उनमें अस्वाभाविकता तो कुछ भी नहीं है। पशु-पक्षी इस प्रकार बोलते ही हैं। इससे आपका कुछ अनिष्ट नहीं होगा। सारस इस कारण बोल उठा था कि उसे भूख लगी थी—उसके पास न खाने को अन्न था, न पीने को पानी। 'कार-कौआ' इसलिए कठोर शब्दों में काँव-काँव करता था कि हथसार के ऊपर उसका घोंसला था, जिसमें उसके बच्चे पले हुए थे, और जिनको महावत अपने फरसे से नष्ट कर डालते थे। पिंजड़े में बन्द कोयल इसलिए रो रही थी कि आपने उसे जंगल में स्वच्छन्द जीवन व्यतीत

करने नहीं देते हैं ! मृगा अपने दल का नायक था। उसे घेरे मे रहना कब पसन्द हो सकता है ?

बोधिसत्व की बातों का असर राजा पर खूब पड़ा। उन्होंने सब पशु-पक्षियों को छोड़ दिया। तब से वे स्वतंत्र होकर विचरने लगे। राजा को यह विश्वास हो गया कि उस रात के सभी शब्द स्वाभाविक थे। इसलिए उन्होंने यज्ञ रोक दिया। झुंड-के-झुंड पशु जो बलिदान के लिए लाये गये थे, छोड़ दिये गये।

इस प्रकार बोधिसत्व का प्रेम सब प्राणियों पर था। उसने मनुष्य को जीवों पर दया करने का उपदेश दिया।

बोधिसत्व की इसी प्रकार की अनेक कहानियाँ हैं। सबका एक ही तात्पर्य है—अर्थात् आत्म-त्याग वा स्वार्थत्याग, और परोपकार से बढ़कर संसार में कोई भी दूसरा पुण्य नहीं है। जो संसार में अपने आपको भूल गया है—दूसरों के लिए अपने को तुच्छ समझता है, वही यथार्थ वीर है, उसी का जीवन शान्तिपूर्ण है, वही उस निर्वाण को प्राप्त कर सकता है, जहाँ अनन्त शान्ति है।

जीवन की एकता

भगवान् बुद्ध का उपदेश किसी जाति-विशेष वा व्यक्ति-विशेष के लिए नहीं था। उन्होंने लोगों को उपदेश देने में जाति-पाँति का, स्त्री-पुरुष का—अथवा किसी प्रकार का—भेद-भाव नहीं रखा। हिन्दू-समाज की सब जाति के लोग बौद्ध-

संघ में सम्मिलित हो सकते थे। इस संघ में एक रानी (राजा विम्बसार की स्त्री) भिक्षुणी थी। एक नर्त्तकी भी भिक्षुणी हो गई थी। उसने गेरुआ-वस्त्र धारण कर लिया था। और भी कितने ही राजा भिक्षु हो गये। एक नापित—कपिल-वस्तु के राजा का हजाम—जो बहुत दयावान और विद्वान था, भिक्षु हो गया।

बुद्ध भगवान् का सिद्धान्त था कि कोई भी जाति किसी जाति-विशेष से ऊँची नहीं हो सकती। बड़प्पन योग्यता में है, जन्म में नहीं। बौद्ध लोग 'ब्राह्मण' उसे कहते थे, जो उच्चतम जीवन व्यतीत करता था।

बुद्धदेव कहा करते थे कि केश पकने से, वंश से, अथवा जन्म से कोई ब्राह्मण नहीं होता। जो सत्य और धर्म पर चलता है, वही ब्राह्मण है। मैं उन्हें ब्राह्मण कहता हूँ, जिनका ज्ञान गम्भीर है, जो बुद्धिमान हैं—सत्यासत्य का निर्णय कर सकते हैं—अपना ध्येय प्राप्त कर चुके हैं।

भगवान् बुद्धदेव की नम्रता और सद्व्यवहार-परायणता की पराकाष्ठा इस कहानी में दिखलाई गई है—

एक बहुत अभिमानी ब्राह्मण था। वह बुद्ध से भेंट करने के लिए सावित्री-नदी के कुंज की ओर गया। उस समय बुद्धदेव के शिष्य इधर-उधर भ्रमण कर रहे थे। ब्राह्मण जब उन शिष्यों के समीप पहुँचा, तो उसने पूछा कि महात्मा बुद्ध कहाँ मिलेंगे?

इसके उत्तर में एक शिष्य ने किसी ओर बतला कर

कहा कि भगवान् उस तरफ रहते हैं। आप धीरे-धीरे द्वार तक जाइये। वहाँ पहुँच कर बहुत धीरे से अपने पहुँचने की आवाज दीजिये, और द्वार पर अपनी उँगली से एक हलकी-सी चोट दीजिये। भगवान् द्वार खोल देंगे।

ब्राह्मण ने आदेशानुसार वैसा ही किया। बुद्धदेव उसके सन्मुख पहुँच गये। ब्राह्मण ने उनका उचित सत्कार नहीं किया—एकदम उद्दंडता दिखाई। वह समझता था कि मैं तो सर्वश्रेष्ठ हूँ, मैं क्यों दूसरों का सत्कार करूँ।

किन्तु, बुद्ध भगवान् को इसके लिए कुछ दुःख नहीं हुआ कि उसने मेरा निरादर किया। हाँ, उन्हें यह बुरा अवश्य मालूम हुआ कि अपने को ब्राह्मण कहने वाला व्यक्ति शिष्टाचार के साधारण नियमों को भी नहीं समझता। इस कारण वह उसे समझाने लगे। कुछ तिरस्कार-पूर्वक कहा—क्या आप इसी प्रकार अपने गुरुजनों के प्रति व्यवहार करते हैं?

युवक ब्राह्मण बोला—कदापि नहीं। मैं यह अच्छी तरह जानता हूँ कि किस व्यक्ति के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिये। मैं यह भी जानता हूँ कि ब्राह्मणों के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिये, और भिक्षुओं तथा दुष्टों के साथ उसी प्रकार का व्यवहार कर रहा हूँ, जैसा उचित है।

बुद्धदेव ने कहा—क्या यह एक दोष आपमें नहीं रह गया है? आप अपने आने के उद्देश्य को समझें। आप तो कुछ सीखने अथवा बहस करने के लिए ही यहाँ आये थे। दोनों ही दशा में मेरे साथ इस प्रकार का रूखा व्यवहार

सराहनीय नहीं है। परन्तु, यह दोष आपका नहीं, आपके गुरु का है, जिन्होंने आपको सदाचार का एक भी उपदेश नहीं दिया।

वह युवक ब्राह्मण क्रोधित हो गया। कहने लगा कि शाक्य-वंशीय उग्र स्वभाव के होते हैं। क्षत्रियों में सहने की शक्ति कहाँ? ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—चार वर्ण हैं। उनमें ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं।

बुद्ध ने कहा—क्या क्षत्रियों का वंश उज्ज्वल नहीं है? क्या उनके पूर्व-पुरुष यशस्वी नहीं हुए हैं?

फिर कहा—जो ज्ञानी और धर्मात्मा हैं, वे जाति-पाँति का प्रश्न नहीं उठाते।

इसी विषय को बढ़ाकर तिबारा कहा—जो जीवन्मुक्त होते हैं, जिन्हें हम आदर्श व्यक्ति कहते हैं, जो अत्यन्त ही शान्ति-पूर्ण जीवन व्यतीत करते हैं, उनके हृदय में ऊँच-नीच का भाव नहीं रहता।

अन्त में वह अभिमानी ब्राह्मण पराजित हुआ। बुद्ध भगवान् के वचन का प्रभाव उस पर खूब पड़ा। उसने अन्त को स्वीकार किया कि बुद्धदेव उन महापुरुषों में से हैं, जो संसार के कल्याण के लिए अवतार लेते हैं।

यह आश्चर्य का विषय है कि इस कठोर मार्ग के पथिक इतने अधिक व्यक्ति—बुद्ध भगवान् के जीवन-काल में ही—किस प्रकार हो गये। इस मार्ग के अनुयायियों को धर्म-परायण होना पड़ता था, स्वार्थ-त्याग करना पड़ता था।

बुद्धदेव के एक शिष्य ने अपने योग-बल से लोगों को ऐसे-ऐसे कार्य कर दिखलाये कि सब आश्चर्य में पड़ गये। शिष्य का तात्पर्य यह था कि इस प्रकार से भी लोग हमारे धर्म में विश्वास करें। परन्तु जब यह समाचार भगवान् बुद्ध को मालूम हुआ तो उन्होंने आश्चर्य में डालने वाले कार्यों का करना रोक दिया।

बुद्ध के सम्बन्ध में भी, बाद में, उनके कई शिष्यों ने अनोखी कहानियाँ लिखी हैं। उनसे यह ज्ञात होता है कि बुद्धदेव में अपौरुषेय शक्तियाँ थीं। उदाहरणार्थ—बुद्ध का स्वर्ग में जाकर अपनी माता 'माया' को उपदेश देना। वह स्वर्ग में तीन मास रहे। इन तीन महीनों तक हजार ढूँढ़ने पर भी वह पृथ्वी पर कहीं नहीं मिले!

बुद्धदेव स्वर्ग और नरक के अस्तित्व में विश्वास रखते थे। उनका विश्वास था कि पुण्यात्मा स्वर्ग में जाकर अपने पुण्य का फल भोगते हैं; परन्तु फल भोगने के बाद वह फिर संसार में लौट आते हैं।

बुद्धदेव के स्वर्ग में जाने का—मरने का नहीं—दृश्य बहुत ही मनोरंजक है। वह इस लोक से स्वर्गीय विमान पर चढ़ कर स्वर्गलोक जाते हैं। देवता और अप्सरायें उनका स्वागत करती हैं। अन्त में उनके उपदेश को उनकी माता, देवतागण, गंधर्व, किन्नर और अप्सरागण—सब-के-सब बहुत चाव से सुनते हैं। जब वह उपदेश देकर स्वर्ग से लौटकर पृथ्वी पर आते हैं, तो उनके उतरने के लिए रत्न-जटित सोने की

सीढ़ी—विमान से पृथ्वी तक—लगाई जाती है, जिसमें इन्द्र-धनुष के रंग के हीरा-जवाहिर आदि खचित हैं।

उन तीन महीनों तक—जब बुद्धदेव स्वर्ग में थे—उन लोगों को इसका कुछ भी पता नहीं था कि गुरुदेव कहाँ गये। शिष्यों ने कितने जंगल-पहाड़ छान डाले, मगर उनका पता कहीं भी न लगा। हाँ, स्वर्ग से उनके लौट आने पर शिष्यगण अपने गुरुदेव को पाकर अत्यन्त हर्षित हुए। वे सब उनके साथ जेठ-वन तक गये। वहाँ बुद्ध ने अनेक व्यक्तियों को अपने नवीन धर्म का उपदेश दिया। उनमें से कितने ही व्यक्ति बौद्ध हो गये।

इसके बाद पौष-मास में वह राजगृह के समीप आये। उस समय फसल कट रही थी। बुद्ध का वास-स्थान एक गाँव में था। लोगों को अपने-अपने काम (खेत काटने) में लगा देखकर वह बहुत आनन्दित होते थे। उनके डेरे के पास ही एक धनी ब्राह्मण का खलिहान था। वह अपना ठिकरा लेकर उसके खलिहान में जा पहुँचे। वहाँ मजदूरों को अन्न दिया जा रहा था।

वह ब्राह्मण अपने खलिहान में एक संन्यासी को आया देखकर बहुत असन्तुष्ट हुआ। बुद्धदेव से कठोर शब्दों में कहने लगा—संन्यासीजी महाराज ! हमने खेत को जोता, हल चलाया, खेत में बीज डाला; अब खेत से अन्न काटकर यहाँ ले आये हैं। हमारे परिश्रम का हिस्सा अब मिल रहा है। परन्तु आपने तो कुछ श्रम नहीं किया—न जोता, न बोया, फिर बतलाइये, आपको अन्न क्योंकर मिले ?

बुद्धदेव ने उत्तर दिया—ब्राह्मण-देवता! मैंने भी यथोचित परिश्रम किया है। मुझे भी अपने परिश्रम का फल अवश्य मिलेगा।

गृहस्थ ने पूछा—यदि आपका कहना सत्य है, तो बतलाइये, आपके बैल कहाँ हैं? आपका हल-जुआठा कहाँ है?

तब बुद्ध आलंकारिक भाषा में उत्तर देने लगे—विश्वास मेरा बीज है, पश्चात्ताप मेरी खेती का जल है, बुद्धि हल-जुआठा है, परिश्रम बैल है, सत्य मेरे पाप और अज्ञान रूपी जंगल को काटता है, अमरत्व मेरी खेती की फसल है।

जब बुद्धदेव ज्ञान प्राप्त कर पहली बार घर गये थे, तो उनका पुत्र 'राहुल' संघ में सम्मिलित कर लिया गया था। उसकी शिक्षा-दीक्षा भिक्षुओं की तरह संघ में ही होती रही। जब वह बीस वर्ष का हुआ, तो जेठ-वन में आया। उसके विषय में यह कहीं भी उल्लेख नहीं है कि दीक्षा लेने के अनंतर बीस वर्ष की अवस्था तक उसने क्या किया। जेठ-वन में बुद्धदेव का जो उपदेश हुआ, वह 'राहुलोपदेश' के नाम से विख्यात है।

बुद्ध का समस्त जीवन एक कठिन तपस्या है। उन्होंने हद से अधिक शारीरिक और मानसिक परिश्रम किया। जब वह पचास वर्ष के हुए, तो लगातार परिश्रम करने के कारण शक्तिहीन होने लगे। इस हेतु कतिपय शिष्यों ने यह निश्चय किया कि गुरुदेव की सेवा और सहायता करने के लिए एक सर्वोत्तम शिष्य चुन लिया जाय, जो सर्वदा उनके साथ रहे।

इस कार्य के लिए बुद्ध के चचेरे भाई 'आनन्द' सब प्रकार से योग्य ठहरे। उन्हीं को नियुक्ति हुई।

जब 'आनन्द' बालक थे, तो किसी ज्योतिषी ने कहा था कि वह बुद्धदेव के शिष्य हो जायँगे। परन्तु उनके पिता यह नहीं चाहते थे कि वह भिक्षु हों। इस कारण वह उनको बुद्ध से सर्वदा पृथक् ही रखते थे। उन्होंने ऐसा प्रबन्ध कर दिया था कि जिससे दोनों भाइयों में भेंट ही न हो। किन्तु भावी को कौन मेट सकता है?

'आनन्द' संघ में सम्मिलित हो गये। जब वह बुद्ध के अनुचर नियुक्त हुए, उसके पूर्व ही बुद्ध के साथ उनका घनिष्ठ प्रेम था—दोनों अभिन्न-हृदय मित्र थे। परन्तु इस नियुक्ति के बाद 'आनन्द' विशेष ध्यान से बुद्ध की सेवा करने लगे। 'आनन्द' ही बुद्ध का ठिकरा लेकर आगे-आगे चलते थे—वही, वृक्ष की छाया में, आवश्यकता पड़ने पर, कम्बल बिछाते थे—वही, पानी की आवश्यकता होने पर, पानी लाकर देते थे।

'आनन्द' सरल स्वभाव के थे, इस कारण बुद्ध का प्रेम उन पर अधिक था। उन दोनों में जो वार्त्तालाप हुआ था, उसका उल्लेख कई पुस्तकों में है। 'आनन्द' न तो उतने बुद्धिमान् थे और न उतने महान् ही, जैसे बुद्ध के दूसरे-दूसरे शिष्य थे। परन्तु 'आनन्द' की सरलता ही लोगों को उनकी ओर आकृष्ट कर लेती थी। वह बुद्ध के अनन्य भक्त थे। जब कभी आवश्यकता होती थी, आनन्द ही उनके लिए सबसे आगे बढ़ते थे। यहाँ तक कि दो-एक कठिन अवसरों पर—जब

उनके दूसरे शिष्य प्राण लेकर भाग गये—आनन्द ने ही अपने प्राणों पर खेलकर उनकी रक्षा की।

इसमें कुछ भी आश्चर्य की बात नहीं है कि बुद्धदेव के भक्त अनेक प्रतिभाशाली व्यक्ति हो गये हैं। वास्तव में बुद्ध ने केवल मनुष्य की ही नहीं—प्राणी-मात्र की भलाई करने के लिए जन्म धारण किया था। वह सब जीवों पर दया रखते थे। अहिंसा के पूर्ण पक्षपाती थे। पशुओं के प्रति वह कितनी दया रखते थे, इसके अनेक उदाहरण प्राचीन पुस्तकों में विद्यमान हैं।

वर्त्तमान समय की सभ्य जातियाँ भले ही 'पशु-पोषक' होने का दावा करें; पर भारतवर्ष में २४०० वर्ष पूर्व बुद्धदेव ने शंख फूँक कर कहा था—जिस मनुष्य में प्राणियों के प्रति दया नहीं है, वह समाज से बहिष्कृत है।

बुद्धदेव ने सब जीवों पर दया करने के लिए अनुरोध किया है, चाहे जीव बलवान् हो अथवा निर्बल। ठीक है—

साईं के सब जीव हैं, कीड़ा कुंजर दोय।
दया कौन पर कीजिये, का पर निर्दय होय॥

बुद्धदेव सब जीवों पर समान भाव से दया करते थे। उनका भ्रातृ-भाव केवल मनुष्य ही के प्रति नहीं, जीवधारी मात्र के साथ था। क्या आज तक संसार में ऐसी उदार और सदय प्रकृति का कोई भी दूसरा व्यक्ति हुआ है?

बुद्धदेव मगध में भ्रमण कर रहे थे। देखा कि एक हरिण

जाल (फन्दे) में फँसा हुआ है । बड़ी दया आई । हरिण को खोलकर भगा दिया । फिर एक वृक्ष के नीचे ध्यान में निमग्न होकर बैठ गये ।

किन्तु बुद्ध उस मनुष्य को नहीं देख पाये, जो चुपचाप उनके पीछे-पीछे हरिण की खोज में आ रहा था । उसके हाथ में धनुष-वाण था । वह क्रोध से अंधा हो रहा था । उसने निश्चय कर लिया कि मृग को भगा देने वाले का प्राण आज न छोड़ूँगा । समीप आकर उसने धनुष-वाण चढ़ाया; परन्तु उसके शरीर में इतना बल और साहस ही न रह गया कि वह बुद्ध पर तीर छोड़े । दैवी शक्ति ने उसे निर्बल कर दिया । बहुत प्रयत्न करके भी वह सफल नहीं हुआ । तब धनुष-वाण रखकर उस स्थान पर आया, जहाँ बुद्धदेव बैठे हुए थे ।

ऐसा कोई भी व्यक्ति नहीं देख पड़ा, जो बुद्ध के समीप जाकर उनकी तेजस्विता और अनुपम सरलता से प्रभावित न हुआ हो । शिकारी का क्रोध शान्त हो गया । तब उसके कानों में बुद्धदेव के वचनामृत की वर्षा होने लगी ।

वह शिकारी घर चला गया, और अपने स्त्री-बच्चों के साथ फिर लौट कर चला आया । सोचा—ऐसी मधुर और उपदेशपूर्ण वाणी केवल मुझे ही सुनना उचित नहीं, अपने घर के लोगों को भी सुनाना चाहिये ।

अन्त में बुद्ध के उपदेश से केवल वह व्याधा ही नहीं, बल्कि उसके घर के और दूसरे लोग भी बुद्ध के कथनानुसार अपना-आपन जीवन बौद्ध-धर्मानुसार व्यतीत करने को उद्यत हो गये ।

उन दिनों यज्ञ का प्रचार अधिक था। यज्ञ में पशुओं का बलिदान भी होता था। हिन्दुओं का यह विश्वास है कि यज्ञ करने से देवता प्रसन्न होते हैं—मनुष्य का कल्याण होता है।

उस समय एक ब्राह्मण किसी यज्ञ के लिए पूरी तैयारी कर रहा था। उसने यज्ञ-बलि के लिए कितने ही पशुओं को इकट्ठा किया था। संयोग-वश बुद्धदेव वहाँ पर जा पहुँचे। बैठने पर ब्राह्मण के साथ वार्त्तालाप होने लगा।

बुद्धदेव प्राण की अमूल्यता पर बातचीत कर रहे थे। उन्होंने कहा—प्राण किसी का हो—मनुष्य का अथवा पशु का—सब दशाओं में रक्षणीय है। हमारी अन्तरात्मा जो कुछ कहे, वही करना चाहिये। यज्ञ की अपेक्षा हृदय की शुद्धता का महत्व कहीं अधिक है; क्योंकि यज्ञ में हम निरपराध पशुओं को बलि चढ़ाते हैं। मनुष्य यदि पुण्य लूटना चाहे, तो उसे उचित है कि वह सत्कार्य करे। निरपराध पशुओं की हत्या करके कोई अपने पापों से मुक्त नहीं हो सकता।

बुद्धदेव की बातों को सुनकर ब्राह्मण का दिमाग फिर गया। उसके हृदय में दया का स्रोत उमड़ पड़ा। उनके कथन की सत्यता में उसको पूर्ण विश्वास हो गया। उसने बौद्ध-धर्म की दीक्षा ले ली। यज्ञ के लिए जो पशु इकट्ठे किये गये थे, छोड़ दिये गये। पशुगण स्वच्छन्दता-पूर्वक पहाड़ की तराई में विचरण करने लगे—वे इच्छानुसार चरते, पानी पीते और ठंढी हवा में घूमते थे।

इस प्रकार भगवान् बुद्धदेव ने अपने शिष्यों को जीवमात्र

पर दया करना सिखलाया। परन्तु इससे भी अधिक महत्व का एक कार्य उन्होंने और किया—अर्थात्, उन्होंने सिखलाया कि अपने शत्रु को भी क्षमा करो, क्रोध को शान्ति से शमन करो, बुराई को भलाई से पराजित करो, शठता को उदारता से जीतो, और असत्य पर सत्य द्वारा विजय पाओ।

बुद्धदेव कहा करते थे कि मनुष्य—जन-साधारण—साईस है; परन्तु चतुर साईस वही है, जो बदमाश घोड़े को अपने वश में रखे। संयमी मनुष्य वही है, जो क्रोध को दबाये रखता है। यह समझना कि क्रोध करने वाला बलवान होता है, सर्वथा असत्य है। जो जितना ही निर्बल है, वह उतना ही अधिक क्रोधी है। क्रोध पर विजय पाना ही सफलता की कुंजी है। जो कोई क्रोधित होकर दूसरों को गाली देता है—बुरी बातें कहता है—वह उस मनुष्य से अवश्य पराजित हो जाता है, जो शान्तचित्त रहकर अपनी जबान खराब नहीं करता।

नम्र और मधुर भाषण में कितनी शक्ति है, इसका प्रमाण हमें बुद्ध की इस कथा से भली प्रकार ज्ञात हो जायगा—

काशी में भ्रमण करने के समय बुद्धदेव से लोगों ने कहा कि अमुक जंगल होकर आप भ्रमण न करें; क्योंकि उस जंगल में 'अंगुलिमाला' नाम का एक डाकू रहता है। उसने कितने ही यात्रियों के प्राण लिये, और कितने ही के धन लूट खाये। उस जंगल के निकटवर्ती गाँवों के लोग उसके डर से काँपते थे। उसे किसी का भय नहीं था। कई बार उसे पकड़ने का यत्न किया गया; किन्तु वह पकड़ा नहीं गया।

वह कहाँ रहता था, इसका पता किसी को नहीं था। जंगल के सब रास्ते उसे मालूम थे। यही कारण था कि वह निर्भीक होकर मनमाना अत्याचार करता था। जब कभी कोई उसका पीछा करने जाता, तो वह स्वयं उस जंगल में राह खोकर भटकता फिरता था। राजा भी उससे नाकों दम आ गये थे।

कोशल-वासियों ने कहा कि भगवन्! आप उस ओर भ्रमण न करें—उधर प्राण का भय है; परन्तु बुद्धदेव तो यह जानते ही नहीं थे कि भय किसे कहते हैं। ठीक है, जो दूसरों को अभय-दान देता है, वह स्वयं भी निर्भय हो जाता है।

बुद्धदेव मना करने पर भी चल पड़े। वह सीधे डाकू 'अंगुलिमाला' के घर पहुँच गये। वह एक खोह में रहता था। उनको देखकर वह बहुत क्रोधित हुआ। उसने उन्हें जान से मार डालने का विचार किया; पर जब समीप आया, तो उनके शान्त स्वरूप को देखकर रहम खा गया—उसे दया आ गई। उनकी मधुर वाणी और दया-पूर्ण वचनों से उसका कलेजा पसीज गया। उनको मारने के लिए जो डंडा उठाया था, वह ऊपर ही रह गया। उसका क्रोध बर्फ के समान पिघल कर पानी हो गया!

पीछे दोनों में बातचीत हुई। बुद्धदेव के सिद्धान्त को उसने स्वीकार किया। साथ ही, अपने दुराचार को छोड़ देने का दृढ़ संकल्प भी कर लिया। अपना दोष स्वीकार कर—जो-जो पाप कर चुका था—सब उनसे कह सुनाया। अन्त में बौद्ध-धर्मावलम्बी हो गया।

जब बुद्धदेव उस जंगल से लौटे, तो 'अंगुलिमाला' भी उनके साथ-साथ चला। जब लोगों को मालूम हुआ कि बुद्धदेव के साथ आने वाला व्यक्ति प्रसिद्ध डाकू 'अंगुलिमाला' है, तो सब अविश्वास करने लगे। अन्त में बुद्धदेव के कहने पर लोगों को विश्वास हो गया कि वही 'अंगुलिमाला' है। थोड़े ही दिनों में वह बौद्ध-संघ में सम्मिलित होकर भिक्षु बन गया। इसके कुछ ही समय के बाद उसकी मृत्यु हो गई।

इस प्रकार बुद्धदेव ने अपनी मधुर और नम्र वाणी द्वारा तथा अपने उच्चतम जीवन के प्रभाव से बौद्ध-धर्म के सिद्धान्तों का पूर्ण प्रचार किया। लोगों पर उनका प्रभाव तुरन्त पड़ जाता था। शायद ही कोई ऐसा मनुष्य था, जो उनका विरोधी रहा हो। फिर भी, उनके कई सगे कुटुम्बी उनसे अप्रसन्न थे। उनके ससुर इस लिए क्रोधित थे कि उन्होंने अपनी प्रिया यशोधरा को त्याग दिया था। जो यशोधरा आज रानी बनी रहती,वह आज भिक्षुणी बनकर भीख माँगती फिरती है!

जब बुद्धदेव को अपने ससुर से भेंट हुई, तो उन्होंने हजारों मनुष्यों के सन्मुख बुद्धदेव का तिरस्कार किया और उन्हें शाप दिया। परन्तु बुद्धदेव का सबसे भारी शत्रु देवदत्त था। बालपन से ही देवदत्त बुद्ध के प्रति द्वेष-भाव रखता था। बुद्ध से उस घायल पक्षी (हंस) के लिए उसकी जो बातचीत हुई थी, उसकी चर्चा ऊपर हो चुकी है। उस दुष्ट ने बुद्ध की बुराई करने में कुछ कसर नहीं की। उसने इसके लिए भी प्रयत्न किया

कि 'आनन्द' बुद्ध के साथ न रहें। परन्तु 'आनन्द' अच्छे स्वभाव के थे। उन्होंने उसकी एक नहीं सुनी।

आखिर देवदत्त ने भी बौद्ध-धर्म ग्रहण कर लिया, भिक्षु होकर संघ में ही रहने लगा; परन्तु उसका स्वभाव नहीं बदला। वहाँ रहकर भी वह अपने दुष्ट स्वभाव का परिचय देने लगा। भिक्षुओं को भड़काना शुरू कर दिया। फल यह हुआ कि पाँच सौ भिक्षुओं को फोड़कर उसने अपना एक पृथक् दल बना लिया।

राजा विम्बसार के पुत्र के साथ देवदत्त की मित्रता थी। इस कारण वह अपने अनुयायियों को साथ लेकर 'राजगृह' में जा बसा। उसे कुछ यंत्र-मंत्र भी मालूम था। इस हेतु उसने विम्बसार के पुत्र को भुलावा देकर अपने वश में कर लिया। राज-पुत्र ने एक 'विहार' बनवा दिया, भिक्षुओं को भोजन देने का भी प्रबन्ध कर दिया, यहाँ तक कि इन पाँच सौ भिक्षुओं के लिए वह प्रति दिन सुस्वादु भोजन भेजा करता था।

देवदत्त की यह आन्तरिक अभिलाषा थी कि बुद्धदेव की जगह वह स्वयं संघ-समूह का नायक बने। वह सोचने लगा कि बुद्ध अब वृद्ध हुए, संघ का कार्य-संचालन कठिन हो जायगा; यदि वह मुझे कार्य-भार दे दें, तो अच्छा हो; क्योंकि वह उपदेश देना भी नहीं छोड़ते, साथ ही संघ का भी निरीक्षण करते हैं; इस कारण उन्हें अधिक कष्ट हो रहा है।

भीतर लाख खोटाई भरी थी; पर बाहर से देवदत्त अपने को बुद्ध का शिष्य ही कहता था। उसने एक नया संघ

स्थापित करने की आज्ञा बुद्ध से माँगी। परन्तु उसके इस प्रस्ताव को बुद्धदेव ने स्वीकार नहीं किया। इससे क्रोधित होकर उसने बौद्ध-धर्म छोड़ने का दृढ़ संकल्प कर लिया—साथ ही, एक नवीन धर्म का प्रचार करना भी ठान लिया; परन्तु उसकी इच्छा पूर्ण नहीं हुई। वह शीघ्र ही इस संसार से चल बसा।

एक कथा है, जिसमें लिखा है कि देवदत्त की कृतघ्नता से दुःखी होकर पृथ्वी उसे निगल गई!

राजा विम्बसार के पुत्र अजातशत्रु के साथ मैत्री करने का फल देवदत्त को क्या मिला, इसका वर्णन अगले अध्याय में है।

शरच्चन्द्र

राजा विम्बसार बौद्धधर्म मानने वालों में से थे। वह इस नवीन धर्म के प्रचार होने के समय से ही इसे मानते आये थे, और जन्म-भर इसको मानते तथा भगवान् बुद्धदेव का आदर-सत्कार करते रहे। उनके एक पुत्र था। उसका नाम 'अजातशत्रु' था। अजातशत्रु का अर्थ है—जिसका कोई शत्रु ही न उत्पन्न हुआ हो।

पटने से उत्तर, गंगा के पार में, मुजफ्फरपुर-जिले के अन्तर्गत, बौद्ध-काल में एक प्रसिद्ध नगर 'वैशाली' था, जिसे आजकल 'बनियाबसाढ़' कहते हैं। यह नगर अत्यन्त मनोहर था। इसमें सुन्दर-सुन्दर मन्दिर, ऊँचे-ऊँचे महल, मनोहर

फुलवाड़ियाँ और भाँति-भाँति के वृक्ष लगे हुए थे। इसको देखकर इन्द्रपुरी स्मरण हो आती थी। इसमें ऐसे-ऐसे भवन थे, जिनकी छतों पर सोने-चाँदी की चादरें बिछी हुई थीं। सूर्य की किरण इसकी चमक को और भी सुन्दर बना देती थी। बाजार की गलियों में ऐसी सजावट रहती थी कि देखने वाला दंग रह जाता था—अचरज में पड़ जाता था। वर्ष के बीच में कितने ही उत्सव मनाये जाते थे। उस समय में इसकी शोभा देखने योग्य थी।

उस समय यह महानगर तीन भागों में बँटा हुआ था। प्रथम विभाग में ७००० घर थे,जिनमें कितने ही सोने के धरहरे थे। दूसरे विभाग में १४००० घर थे, जिनमें चाँदी के कितने ही धरहरे बने हुए थे; और तीसरे विभाग में २१,००० घर थे, जिनमें कई-एक ताँबे के धरहरे बने थे।

इन तीनों विभागों में तीन श्रेणी के मनुष्य अपनी-अपनी योग्यता एवं मर्यादा के अनुसार रहते थे। यहाँ का राजा वंश-परम्परा के अनुसार नहीं होता था—राजा का लड़का ही राजा नहीं होता था—प्रजा-तन्त्र राज्य था। प्रजा मिल-कर राजा को चुनती थी। इस प्रकार के प्रजातंत्र-राज्यों की संख्या प्राचीन भारतवर्ष में अनेक थी। राजा 'प्रधान' कहलाता था।

जब राजा विम्बसार राज्य कर रहे थे, उस समय में वैशाली के 'प्रधान' के दो कन्यायें थीं। किसी समय में राजा विम्बसार वैशाली गये हुए थे। बड़ी राजकन्या को देखकर

वह मोहित हो गये। उसके साथ उन्होंने विवाह कर लिया। रानी का नाम था 'भास्वी'। इसी 'भास्वी' से राजा बिम्बसार के एक पुत्र हुआ—'अजातशत्रु'।

बचपन से ही अजातशत्रु का स्वभाव बुरा था। वह इधर-उधर घूमने में अधिक ध्यान देता था। दूसरे, वह कुछ उग्र स्वभाव का था। वह जिस-तिस से मित्रता कर लेता था। देवदत्त के साथ, जो बुद्धदेव का चचेरा भाई था, उसकी मित्रता हो गई थी। राजा बिम्बसार को यह जानकर बहुत दुःख हुआ कि अजातशत्रु को एक ऐसे व्यक्ति के साथ मैत्री हो गई है, जो भगवान् बुद्धदेव का शत्रु है। राजा ने उसे देवदत्त का साथ छोड़ने के लिए कहा, परन्तु उसने राजा की एक न सुनी।

देवदत्त दुष्ट स्वभाव का था ही। उसने अजातशत्रु के मन में भी बुरे-बुरे विचारों को भरना शुरू कर दिया। अजात शीघ्र राजगद्दी पर बैठने को उत्सुक हो गया। इसके लिए उसने एक बार राजा का प्राण भी लेना चाहा। परन्तु भेद खुल गया। राजा बिम्बसार उदार पुरुष थे। उन्होंने राजकुमार के कसूर को माफ कर दिया। इतना ही नहीं, उन्होंने राज्य का कुछ अंश अजात के हाथ में सौंप दिया, जिससे वह अपने राज्य-कार्य में लग जाय और अपने उत्तरदायित्व को समझने लगे।

परन्तु वह कब सुधरने वाला था? वह प्रजा को सताने लगा। मनमाना 'कर' वसूल करने लगा। प्रजा त्राहि-त्राहि

करने लगी। सब लोग अपना दुःख सुनाने के लिए राजा के पास पहुँचे।

इस समाचार को सुनकर राजा के हृदय पर बहुत भारी आघात पहुँचा, क्योंकि वह अपनी प्रजा को पुत्रवत् मानते थे। उन्होंने सोचा कि अजात के सुधरने का कोई लक्षण नहीं है, हो सकता है कि सारा राज्य पा जाने से उसमें सन्तोष-जनक परिवर्त्तन हो जाय। इस कारण उन्होंने केवल 'राजगृह' का प्रबन्ध अपने हाथ में रखा, और शेष समस्त देशों का प्रबन्ध उसको दे डाला।

किन्तु अजातशत्रु इससे भी सन्तुष्ट नहीं हुआ। उसने राजगृह का शासन भी अपने हाथ में ले लेना चाहा। जब राजा को यह समाचार ज्ञात हुआ, तो उन्हें बहुत दुःख हुआ। जिसका मंत्री देवदत्त था, वह कभी भी प्रिय राजा नहीं हो सकता था। राजा वृद्ध हो गये थे। अजातशत्रु के दुष्ट कर्मों से वह सदा चिन्तित रहने लगे।

अन्त में उन्होंने सब कुछ अजात को दे दिया, परन्तु साथ-साथ उन्होंने उसको देवदत्त से अलग ही रहने की सम्मति दी। अजात को यह बात कड़वी लगी। उसने राजा को कैद कर दिया। उस कैदखाने में खाने का भी पूरा-पूरा प्रबन्ध नहीं था। राजा विम्बसार की इस दशा पर किसे दुःख नहीं होगा? अपने ही सरल स्वभाव के कारण वह इस अधोगति को पहुँचे!

कैदखाने में रानी को छोड़ दूसरा कोई आदमी नहीं जा सकता था। रानी चुपचाप उत्तम-उत्तम भोजन अपने साथ

ले जाकर राजा को दे आती थी। जब अजात को इस बात का पता लगा कि रानी राजा के पास राजसी भोजन पहुँचा जाया करती है, तो उसने उनसे—अपनी माता भास्वी से—कहा कि आप राजा से भेंट करने के लिए खाली हाथ जायँ। साथ ही, उसने रानी को यह भी चेतावनी दे दी कि आप यदि भविष्य में राजा को भोजन देंगी, तो आपके जीवन का भी अन्त हो जायगा!

इसके बाद राजा से भेंट करने के लिए रानी जातीं, तो दूसरी-दूसरी चीजें छिपा-छिपाकर ले जातीं। जब अजात को इसकी भी खबर लग गई, तो उसने रानी को आज्ञा दिया कि वह अब राजा से भेंट नहीं कर सकतीं।

बन्दीगृह के सामने ही गृद्धकूट-पर्वत था। बुद्धदेव अपने शिष्यों के साथ कभी-कभी उसी पर्वत की चोटी पर जाकर बैठते थे। राजा बिम्बसार अपनी खिड़की से अपने गुरुदेव के दर्शन कर सन्तुष्ट रहते थे। जब अजात को इसका पता लगा, तो उसने खिड़की को भी बन्द करा दिया!

अजातशत्रु के एक बालक था। उसकी उँगली में एक घाव हो गया। वह लड़का चिल्लाता हुआ अपने पिता के पास गया। अजात ने उसे उठाकर अपनी गोद में रख लिया। रानी भास्वी को इस घटना पर रोना आया। वह बोल उठी—अजात! इसी प्रकार तुम्हारे पिता भी तुम्हें प्यार करते थे; वह इसी प्रकार प्रेम से तुम्हें गोद में लेते थे, तुमने आज उन्हें कैद कर रखा है, तुम्हें दया नहीं आती?

अजातशत्रु को अपनी भूल मालूम हो गई। वह पश्चात्ताप करने लगा। उसने आज्ञा दी कि राजा बिम्बसार छोड़ दिये जायँ। परन्तु जो होना था, वह हो चुका! राजा कारागृह में ही प्राण छोड़ चुके थे! दूत ने आकर कहा—श्रीमान् के पिताजी अब इस संसार में नहीं हैं!

अब अजातशत्रु मगध का निष्कंटक राजा हो गया। पिता की मृत्यु से उसे बहुत दुःख हुआ, परन्तु उसने दुष्ट देव-दत्त का साथ नहीं छोड़ा। देवदत्त उसका मंत्री बना ही रहा!

कृतघ्न भिक्षुगण, जो बुद्ध के संघ को छोड़कर चले गये थे, सर्वदा बुद्ध की घात में लगे रहते थे। जब बुद्धदेव राज-गृह में गये, तो देवदत्त ने कई बार उनका जीवन नष्ट करने का प्रबन्ध किया। उस समय एक व्यक्ति दक्षिण-भारत से आया हुआ था। वह अस्त्र-शस्त्र बनाने में निपुण था। अजातशत्रु ने उससे कहा कि तुम एक ऐसा यंत्र बनाओ, जिसकी सहा-यता से बड़े-बड़े पत्थर के टुकड़े सहज ही किसी मनुष्य पर फेके जा सकें।

यंत्र तैयार हो गया। चार-पाँच व्यक्ति पत्थर फेंकने पर नियुक्त भी हुए। परन्तु जब पत्थर फेकने का अवसर आया, तो उनमें से किसी को साहस नहीं होता था कि बुद्धदेव पर पत्थर चलावें। वे सोचने लगे कि हम निरपराध मनुष्य को क्यों मारें। वे सीधे बुद्धदेव के पास चले गये और अपनी भूल के लिए माफी माँगने लगे। बुद्ध भगवान् ने उनको उप-देश देकर बौद्ध बना लिया।

जब देवदत्त को इस नवीन घटना का समाचार मालूम हुआ, तो उसने स्वयं पत्थर फेकने का निश्चय किया। उसने बुद्धदेव पर एक भारी पत्थर फेका, जिससे उनके पैर में गहरी चोट लगी। पैर से रुधिर की धारा बह चली। किसी भी उपाय से लहू बहना बन्द नहीं हुआ।

तब, शिष्यगण 'जीवक' नाम के एक सुप्रसिद्ध वैद्य को बुलाने के लिए दौड़ पड़े। 'जीवक' अजातशत्रु का सौतेला भाई था। उसने कितने ही बहुमूल्य पदार्थों से एक मरहम तैयार किया। परन्तु इस दवा से भी घाव के आराम होने में बहुत समय लग गया।

देवदत्त को इतने पर भी चैन न मिला। उस दुष्ट ने बुद्ध को खतम कर देने के लिए एक नया उपाय ढूँढ़ निकाला। राजा के हथसार में एक पागल हाथी था—कितने ही मनुष्यों को घायल कर चुका था—कितनों ही को यमपुरी भेज चुका था।

लोगों ने तंग आकर राजा के पास यह निवेदन किया कि हाथी के गले में एक घंटी बाँध दी जाय, जिससे लोगों को उसके आने की सूचना पहले ही मिल जाय; यदि ऐसा नहीं किया गया, तो व्यर्थ ही कितने लोग अपनी जान से हाथ धो बैठेंगे। फलतः घंटी बाँध दी गई। जब हाथी बाहर निकलता, घंटी की आवाज सुनकर लोग छिप जाते।

देवदत्त को यह समाचार मिला कि राजगृह के एक सौदागर ने बुद्ध को अपने यहाँ निमंत्रण देकर बुलाया है।

इस लिए उसने महावत से जाकर कहा कि तुम पगले हाथी को अगर बुद्ध के पास होकर ले जाओ, तो मैं तुम्हें एक हजार का हार इनाम में दूँगा।

इस बात को उसने ऐसे हाव-भाव के साथ कहा कि जिससे यह मालूम पड़ा, मानों राजा अजातशत्रु की इच्छा से ही यह काम हो रहा था। किन्तु, किसी प्रकार बुद्धदेव को भी इस दुष्ट कार्य का पता लग गया। लोगों ने उन्हें उधर जाने से रोका; पर बुद्धदेव ने उनकी एक नहीं सुनी। वह सीधे सौदागर के घर की ओर चल पड़े। रास्ते में पगले हाथी के घंटे का शब्द सुन पड़ने लगा। हाथी लोगों की भीड़ की तरफ आगे बढ़ा। यह देख लोग चारो ओर जहाँ-तहाँ भागने लगे। यहाँ तक कि बुद्ध के शिष्य भी अपने-अपने प्राणों की रक्षा के लिए इधर-उधर छिप गये!

बुद्ध के साथ केवल 'आनन्द' रह गये। जब वह हाथी बुद्ध के समीप पहुँचा, तो उन्होंने उसके कान में धीरे से कुछ कह दिया। वह एकदम शान्त होकर खड़ा हो गया! पालतू कुत्ते की तरह बुद्धदेव के पीछे-पीछे चलने लगा!

बुद्ध भगवान् अपने आत्मिक बल से पशु-पक्षियों को भी अपने वश में कर लेते थे। प्राचीन चित्रकारी में इस भाव के अनेक चित्र अंकित किये हुए मिलते हैं।

इन कतिपय घटनाओं के अनन्तर वे कृतघ्न भिक्षु-गण, जो देवदत्त के कहने में आकर बुद्धदेव से अलग होकर उसके दल में सम्मिलित हो गये थे, बहुत पछताने लगे। वे देवदत्त के

स्वभाव से ऊब गये। अंततोगत्वा सब-के-सब क्षमा-प्रार्थना करने के लिए बुद्धदेव के पास पहुँचे।

भगवान् बुद्धदेव ने उनके साथ पूरी सहानुभूति प्रकट की। अजातशत्रु भी देवदत्त पर कुछ-कुछ अविश्वास करने लगा, क्योंकि वह भी कभी-कभी बुद्धदेव के दर्शनार्थ जाया करता था—उस समय, जब कि बुद्धदेव 'जीवक'-वैद्य के आम्र-वन में ठहरे हुए थे।

कार्तिक मास था। पूर्ण शरच्चन्द्र निर्मल आकाश में शोभायमान हो रहे थे। आकाश स्वर्गीय शोभा से सम्पन्न था। अजातशत्रु अपने मंत्रियों के साथ चित्त प्रसन्न करने के लिए अट्टालिका पर चढ़ गया। वह बहुत प्रसन्न होकर बोला—वाह! आज की रात कैसी अच्छी है! आज का शरच्चन्द्र कैसी अपूर्व शोभा पा रहा है। इस उपलक्ष्य में मुझे क्या करना चाहिये?

किसी मंत्री ने कहा—श्रीमान् को किस वस्तु की कमी है? नगर को सजाने के लिए श्रीमान् आज्ञा दे दें, और नगर-निवासियों को उत्सव मनाने के लिए कह दिया जाय। श्रीमान् इस दृश्य को देखकर आनन्दित हों!

किसी दूसरे ने कहा—श्रीमान् किसी समीपवर्ती देश पर आक्रमण करने की आज्ञा दे दें।

परन्तु राजा ने किसी को उत्तर नहीं दिया। उसने जीवक की ओर देखकर कहा—जीवक! तुम तो कुछ नहीं बोले। तुम्हारी क्या सम्मति है?

जीवक ने उत्तर दिया—श्रीमान् को विदित हो है कि भगवान् बुद्ध आम्र-वन में रहते हैं। उनकी सरलता और उनकी बुद्धि अपौरुषेय है। वह मनुष्यमात्र के मित्र और पथ-प्रदर्शक हैं। श्रीमान् चलकर उनका दर्शन करें। इससे श्रीमान् का अवश्य कल्याण होगा, और शान्ति भी मिलेगी।

सम्भवतः उस रमणीय रात्रि का ही यह प्रभाव था कि अजात का हृदय पिघल गया। सदय हृदय से बोला—जीवक! लोगों से जाकर कह दो कि बुद्ध भगवान् के पास चलने की तैयारी करें; मैं आज उनका दर्शन करूँगा!

एक बड़ा ही शानदार शाही जलूस सज-धजकर राज-द्वार पर लाया गया। मशालें जलाई गईं। पाँच सौ स्त्रियाँ हाथी पर चढ़कर आगे-आगे चलीं। जलूस आम्र-वन के समीप पहुँचा। परन्तु वहाँ कोई 'चूँ'-शब्द भी नहीं सुन पड़ता था।

राजा को यह आश्चर्य मालूम हुआ कि जहाँ हजारों लोग रहते हों, वहाँ इतनी स्तब्धता! उसको भय हुआ कि शायद जीवक ने उसे किसी शत्रु के हाथ में लाकर सौंप दिया। इसलिए वह जीवक की ओर फिरकर कहने लगा—जीवक! यह सब क्या हो रहा है? क्या मेरे साथ कोई खेल खेला गया है? क्या तुम मुझे किसी शत्रु के हाथ में सौंप रहे हो? क्या कारण है कि यहाँ पर इतने लोग हैं, पर कोई आवाज नहीं आ रही है?

जीवक ने उत्तर दिया—नहीं राजन्, मैं आपको धोखा नहीं दे रहा हूँ। भीतर देखिये। 'विहार' में रोशनी जल रही है।

राजा हाथी से उतर कर विहार की ओर पैदल ही चल पड़ा। देखा, सामने हजारों मनुष्य हैं। उसको इस बात का पता ही नहीं लगा कि उनमें बुद्धदेव कौन हैं। तब उसने जीवक से पूछा—बुद्धदेव कौन हैं?

जीवक ने उत्तर दिया—राजन्! बुद्धदेव बीच वाले स्तम्भ पर झुके हुए हैं—पूरब-मुँह होकर बैठे हैं। अहा! उन्हें देखिये तो, वह कैसे तेजोमय सुन्दर देख पड़ते हैं! मालूम होता है, किसी प्रशान्त झील में कमल खिल रहा है!

राजा पर इस निस्तब्धता का बहुत अधिक प्रभाव पड़ा। उसने जीवक से फिर पूछा—क्या मेरे पुत्र को इसी प्रकार का शान्तिपूर्ण जीवन प्राप्त हो सकता है, जिसको हम आज इस सभास्थल में पा रहे हैं?

इसके बाद अजातशत्रु ने बहुत प्रेम और श्रद्धा से सिर झुकाकर बुद्धदेव को प्रणाम किया। फिर बड़े नम्र भाव से दो-चार प्रश्न पूछने की अनुमति माँगी। बुद्धदेव से कहा—कृपाकर आप मेरे संशय को दूर करें।

बुद्धदेव ने उत्तर दिया—राजन्! आप जो प्रश्न चाहें, पूछ सकते हैं।

राजा ने पूछा—संसार में कितने ही पेशे के लोग हैं—कोई फीलवान है, कोई सवार है, कोई धनुष-बाणधारी है, कोई सैनिक है, कोई सारथी है, कोई जुलाहा है, कोई रसोइया है, कोई धोबी है, कोई डोम है, कोई हजाम है, कोई मुन्शी (लिखने वाला) है—और भी कितने लोग कितने कामों में

लगे हुए हैं। इन सबों को अपना-अपना काम करने पर कुछ-न-कुछ पुरस्कार अवश्य मिलता है। जो कुछ वे धनोपार्जन करते हैं, उससे वे अपने परिवार का पालन-पोषण करते हैं। साथ ही, वे अपना जीवन भी आनन्द से बिताते हैं। परन्तु उस मनुष्य को, जो भिक्षु हो जाता है—सर्वत्यागी हो जाता है—अपने घर-परिवार और बाल-बच्चों को त्याग देता है, कौन-सा पुरस्कार मिलता है ?

राजा ने फिर कहा—मैंने इसी प्रश्न को कितने ही ब्राह्मण और सन्यासियों से पूछा; परन्तु किसी ने आज तक सन्तोष-जनक उत्तर नहीं दिया।

बुद्धदेव ने कहा—मैं आपसे एक प्रश्न पूछता हूँ। आप यह मान लें कि आपका एक नौकर सन्यासी हो गया है—उसने मुंडन करा लिया, गेरुआ वस्त्र धारण कर लिया, और सदा एकान्त में रहता है; उसे केवल जीवन-निर्वाह करने के लिए केवल थोड़े भोजन से प्रयोजन है; संसार की शेष वस्तुओं का उसने त्याग कर दिया है। अब बतलाइये कि उस मनुष्य के प्रति आपका व्यवहार कैसा होगा ?

राजा ने उत्तर दिया—भगवन् ! मैं उसे बहुत श्रद्धा की दृष्टि से देखूँगा; उसे देखकर उठ खड़ा होऊँगा; पहले उसे बिठाकर पीछे स्वयं बैठूँगा; यदि आवश्यकता समझूँगा, तो उसे कुटी बनवा दूँगा; उसे भोजन और वस्त्र दूँगा; यदि वह बीमार हो जाय, तो उसे दवा दूँगा। कहने का तात्पर्य यह कि उसे जिस वस्तु की आवश्यकता होगी, सब उसे दूँगा।

बुद्धदेव ने कहा—तो क्या इससे यह स्पष्ट विदित नहीं होता कि उस मनुष्य को इसी जीवन में अवश्य पुरस्कार मिल जाता है, जो उच्चतर जीवन व्यतीत करता है ?

राजा को इस उत्तर से सन्तोष हो गया। बुद्ध भगवान् समझाने लगे—यह तो पहला पुरस्कार है। इससे भी अधिक उत्तम पुरस्कार उन लोगों को मिलता है, जो संसार से अपना सम्बन्ध छोड़ देते हैं, और जो सांसारिक वासनाओं से मुक्त हो जाते हैं। वही मनुष्य स्वच्छन्द है—वायु के समान स्वतंत्रतापूर्वक विचरण करता है, जिसने कामिनी-कांचन और काया को त्याग दिया है। ऐसा मनुष्य उस स्वतंत्र पक्षी के समान है, जो इच्छानुसार एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष पर जाता है। उसे केवल मुट्ठी-भर भोजन और तन ढकने के लिए गज-भर वस्त्र से प्रयोजन है। उसका निवास-स्थान किसी निर्जन स्थान में होता है—चाहे वह हवादार पहाड़ी प्रदेश हो या कुंज-कानन या पहाड़ की घाटी। भिक्षु सन्तुष्ट रहते हैं अथवा इस प्रकार से सन्तुष्ट रहना सीखते हैं। जब वे सद्गुणों को अपने अन्दर भर लेते हैं, तो सबके साथ शान्तिपूर्वक रह सकते हैं; सबके प्रति उन्हें प्रेम और दया-भाव रहता है; वे सब जीवों को अपनी आत्मा के समान देखते हैं। वे उस राजा के समान रहते हैं, जिसने अपने सब शत्रुओं को पराजित कर दिया है। उन्होंने अपनी सब वासनाओं को दबा डाला है—अपने हृदय से चिन्ता, क्रोध, घृणा, आलस्य और दुष्ट प्रकृति को दूर कर दिया है। वे शान्त और

निर्मल हो जाते हैं। उनके हृदय से आनन्द का स्रोत बहता है, जिससे चारों ओर शान्ति-ही-शान्ति दिखलाई पड़ती है। वे आत्म-तृप्त हो जाते हैं—वाह्य पदार्थों से उनकी इन्द्रियों को सुख नहीं मिलता।

राजा को इस उत्तर से पूर्ण सन्तोष हो गया। उसे विश्वास हो गया कि इस जीवन में भी उन भिक्षुओं को पुरस्कार मिलता है, जो संसार त्याग कर उच्चतर जीवन व्यतीत करते हैं। बुद्धदेव के शब्दों को स्मरण कर वह पुलकित हो गया। जोर से बोल उठा—भगवन्! आपके शब्द कितने महत्त्व-पूर्ण हैं! उनमें वह शक्ति है, जो अन्धकार में प्रकाश उत्पन्न कर सकती है, और जिससे खोई हुई चीज मिल जा सकती है। आपने मुझे सत्य से साक्षात्कार करा दिया। अब से मैं आप में, बौद्ध-धर्म में और बौद्ध-संघ में विश्वास करता हूँ। प्रभो! मैं पापी हूँ, पितृहन्ता हूँ, मेरे कारण ही न्यायी और निरपराध पिताजी की मृत्यु हुई। भगवन्! मैं अपना यह दोष आपके सम्मुख स्वीकार करता हूँ।

बुद्ध ने उत्तर दिया—सत्य-सत्य, आप पापी हैं। परन्तु आपने अपना दोष स्वीकार किया है—अपनी भूल मालूम कर ली है, इस कारण आपके दोष-स्वीकार को मैं ग्रहण करता हूँ। वह मनुष्य समय पाकर आत्म-संयमी हो सकता है, जिसने अपनी भूल स्वीकार कर ली है, और जिसने सत्य को जान लिया है।

रात बहुत बीत चुकी थी। चन्द्रमा डूब रहे थे। राजा ने

चलने की अनुमति माँगी। जब वह चला गया, तो बुद्धदेव ने अपने शिष्यों को उपदेश दिया। उनसे कहा कि राजा पर मेरे बचन का बहुत प्रभाव पड़ा; परन्तु उसका पाप ही इतना भारी है कि वह बौद्ध-धर्म को स्वीकार करने में असमर्थ हो रहा है। जब पाप के कारण आत्मा के नेत्र बन्द हो जाते हैं, तो सत्य नहीं देख पड़ता।

भिक्षु-संघ

बौद्ध-भिक्षुओं का संघ संसार की प्राचीनतम संस्था है, जो भ्रातृभाव का प्रचार करती है। यह संघ २५०० वर्ष पूर्व गौतम बुद्ध द्वारा भारतवर्ष में स्थापित हुआ था। अब भी यह वर्त्तमान है।

जब कोई व्यक्ति संघ में सम्मिलित होने लगता है, तो वह कई प्रतिज्ञायें करता है; परन्तु वे प्रतिज्ञायें आजीवन के लिए नहीं होतीं। यदि कोई संघ में प्रवेश कर चुका है, और बाद को अपनी कमजोरियाँ देखकर उससे पृथक् होना चाहता है, तो वह बहुत खुशी के साथ उस संघ से अपना सम्बन्ध तोड़कर फिर गृहस्थ बन सकता है। परन्तु यह अत्यन्त ही लज्जा का विषय हो जाता है कि कोई व्यक्ति एक बार संघ में प्रवेश कर थोड़े दिनों के बाद उससे अपना सम्बन्ध त्याग दे। कितने ही व्यक्ति केवल थोड़े अनिश्चित महीने के लिए ही प्रतिज्ञा करते हैं और कितने मनुष्य कुछ निश्चित समय तक के लिए ही। उस देश में, जहाँ बौद्ध-धर्म का अधिक

प्रचार है, शायद ही कोई ऐसा व्यक्ति मिले, जिसने थोड़े समय के लिए भी बौद्ध-संघ के नियमों का पालन न किया हो।

भिक्षुओं का उद्देश्य यह रहता है कि वे अपने मन को संसार के पदार्थों से अलग रखें—उन पदार्थों के तत्त्व को समझें, जिससे उनके मन में शान्ति उत्पन्न हो।

बुद्ध का यह उपदेश था कि वह मनुष्य, जो निर्वाण पाने का इच्छुक हो, तब तक इसे प्राप्त नहीं कर सकता, जब तक वह सांसारिक सुख और भोगों को तिलांजलि न दे दे। परन्तु ऐसा करना सबके लिए सहज नहीं है। ऐसा केवल वही कर सकता है, जिसने सब ममताओं को छोड़ दिया हो, और जो अपने गृह-परिवार को त्याग कर सन्यासी हो गया हो।

भिक्षुगण सिर में बाल नहीं रखते—सन्यासी की तरह गेरुआ वस्त्र धारण करते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि वे अपने जीवन की धारा को दूसरी ओर बहाना चाहते हैं—संसार की तरफ नहीं, निर्वाण की ओर। इस प्रकार के वेशाचार का महत्त्व कुछ अधिक नहीं है। स्वयं बुद्ध भगवान् ने कहा है कि भस्म लगाने से, उपवास करने से, पृथ्वी पर सोने से ही लोगों की आत्मा पवित्र नहीं होती। ऐसे-ऐसे कर्म मनुष्य के पापों को दूर नहीं कर सकते।

बौद्ध-मत वाले कार्य-कारण के सिद्धान्त को—कर्म के अटल सिद्धान्त को—मानते हैं, अर्थात् यह कि सत्कर्म का फल अच्छा और दुष्कर्म का बुरा होता है। दूसरे धर्मों के मानने वाले भले ही विश्वास कर लें कि किसी कर्म द्वारा—

जैसे, देवताओं की पूजा करने से—हमारे पापों का नाश हो जाता है, परन्तु बौद्ध-धर्मावलम्बी इस सिद्धान्त को मानने के लिए प्रस्तुत नहीं हैं। पाप का दंड—बुरे कर्मों का फल—हमें भोगना ही होगा। जैसे गाड़ी का पहिया सदैव बैल का पीछा करता है, वैसे ही मनुष्य के बुरे कर्मों के फल भी उसके साथ रहते हैं। मनुष्य चाहे आकाश में चला जाय, अथवा समुद्र में घुस पड़े, या पहाड़ों के दर्रे में जाकर छिप रहे; परन्तु पापों से उसका उद्धार नहीं होगा। पापों के फल तो उसे मिलेंगे ही—शीघ्र अथवा विलम्ब से—इस जीवन में या किसी दूसरे जन्म में।

बौद्ध-धर्म वालों का यह विश्वास है कि दंड अनन्त नहीं है; समुचित दंड भोग लेने पर मनुष्य निर्वाण पाने के लिए उद्योग कर सकता है।

भिक्षुगण संसार त्याग कर इसी उद्योग में लग जाते हैं। सांसारिक सुख-ऐश्वर्य के त्यागने का उद्देश्य यही रहता है कि निर्वाण के पथ में हम अग्रसर हों।

बौद्ध-धर्म वालों में संघ में सम्मिलित होने की विधि अत्यन्त पवित्र और महत्त्वपूर्ण है। उस विधि में आज दो हजार वर्षों के बाद भी कोई परिवर्त्तन नहीं हुआ है। प्रथम उस व्यक्ति की, जो संघ में प्रविष्ट होना चाहता है, परीक्षा होती है। दस परीक्षकों की एक सभा होती है। यदि वह व्यक्ति योग्य ठहरा, तो वह एक बहुत लम्बी कोठरी में लाया जाता है, जिसमें बड़े-बड़े पाये रहते हैं। सबसे आगे भिक्षुओं

में श्रेष्ठ और वृद्ध कोठरी के पश्चात् भाग में बैठते हैं। इसके अनन्तर चटाई पर पलथी मारकर, अन्य भिक्षुगण, दो पंक्तियों में, कोठरी के एक सिरे से दूसरे सिरे तक, बैठ जाते हैं। फिर वह व्यक्ति—जो भिक्षु बनना चाहता है—अपना साधारण वस्त्र पहने हुए, और गेरुआ वस्त्र को हाथ में लेकर, वृद्ध भिक्षुओं के निकट पहुँचता है। वहाँ जाकर वह घुटने टेक कर, संघ में सम्मिलित होने के लिए, तीन बार प्रार्थना करता है। तब उसे प्रथम बार गेरुआ वस्त्र धारण करने के लिए आज्ञा मिलती है। वह वस्त्र पहनने के लिए कोठरी के दूसरे भाग में चला जाता है। जब वहाँ से लौटकर आता है, तो निम्नलिखित वाक्यों को पढ़ता है, जिसे बौद्ध लोग "त्रिशरणम्" (तीन शरण की प्रतिज्ञा) कहते हैं—

१—मैं बुद्ध की शरण में आता हूँ।

२—मैं बौद्ध-धर्म की शरण में आता हूँ।

३—मैं संघ की शरण में आता हूँ।

इनमें से प्रत्येक प्रतिज्ञा तीन बार दुहराई जाती है। इसके बाद वह नीचे-लिखी दस प्रतिज्ञायें करता है, और प्रत्येक को तीन बार पढ़ता है—

१—मैं हिंसा नहीं करूँगा।

२—मैं किसी प्रकार की चोरी नहीं करूँगा।

३—मैं पवित्र जीवन बिताऊँगा।

४—मैं असत्य नहीं बोलूँगा।

५—मैं किसी प्रकार का नशा नहीं खाऊँगा।

ये ऊपर वाली पाँच प्रतिज्ञायें प्रत्येक व्यक्ति के लिए—चाहे वह गृहस्थ हो या भिक्षु (गृहत्यागी)—अनिवार्य हैं। शेष ये पाँच प्रतिज्ञायें केवल भिक्षुओं के लिए हैं—

६—मैं केवल निर्दिष्ट समय में ही भोजन करूँगा।

७—मैं नाच-रंग-राग में सम्मिलित नहीं होऊँगा।

८—मैं आभूषण धारण नहीं करूँगा।

९—मैं गद्दी पर नहीं सोऊँगा।

१०—मैं द्रव्य ग्रहण नहीं करूँगा।

उपर्युक्त सब वाक्य भगवान् बुद्ध के हैं। इन वाक्यों को भिन्न-भिन्न अवसरों पर उन्होंने कहा है। इन्हीं प्रतिज्ञाओं के साथ प्रवेश-विधि समाप्त होती है। जब तक ऐसे भिक्षु बीस वर्ष के नहीं होते, सिद्ध नहीं समझे जाते।

इस प्रकार नव भिक्षु और प्रौढ़ भिक्षु संघ में होते हैं। प्रत्येक नव भिक्षु—प्रौढ़ भिक्षु की देखरेख में—उनकी अधीनता में—रहता है। इन दोनों का सम्बन्ध ठीक पिता-पुत्र के समान होता है। नव भिक्षु का यह कर्त्तव्य होता है कि वह अपने गुरु की आवश्यकताओं की पूर्ति करे। वह प्रातःकाल ही उठ जाता है। तब स्नानादि करके पवित्र होता है। फिर सारे घर की सफाई करता है। इसके बाद उस वट-वृक्ष को साफ कर आता है, जो प्रत्येक संघ में रहता है। यह वट-वृक्ष बुद्ध के उस बोधिसत्व का स्मारक है, जहाँ उनको ज्ञान प्राप्त हुआ था। इसके अनन्तर वह पानी भरकर लाता और उसे साफ कपड़े में छानता है। इन समस्त कार्यों से छुट्टी पाकर वह

ध्यान करने के लिए बैठ जाता है। वह किसी एक विषय पर ध्यान लगाता है, और जो-जो दूसरे विषय मन में उठते हैं, उन्हें हटाता जाता है।

ध्यान की विधि बौद्ध-धर्म में यह है कि ध्यान करने वाला किसी विशेष विषय से सम्बन्ध रखने वाली प्रार्थनाओं को बराबर पढ़ता है।

भिक्षु (बौद्ध-सन्यासी) दिन-रात मिलाकर केवल एक ही बार भोजन करते हैं। भोजन करने का समय प्रातःकाल और दोपहर के बीच का समय है। इस हेतु नव भिक्षु अपने गुरु (प्रौढ़ भिक्षु) के साथ-साथ गाँव में भिक्षाटन के लिए जाते हैं। वे अपना ठिकरा (भिक्षा माँगने का पात्र) लेकर घर के सामने चुपचाप खड़े हो जाते हैं। किसी से कोई चीज नहीं माँगते। चुपचाप, थोड़ी देर ठहरने के बाद, चल देते हैं। जो उन्हें कुछ भी नहीं देता, उसे दुर्वचन नहीं कहते—खरी-खोटी नहीं सुनाते।

जिन देशों में बौद्ध-धर्म का प्रचार है, वहाँ भिक्षुओं का बहुत सत्कार होता है। उन्हें भिक्षा-दान देकर लोग अपने को धन्य मानते हैं—कृतकृत्य होते हैं। दरिद्र-से-दरिद्र व्यक्ति भी उनके लिए थोड़ा-बहुत चावल अथवा फल पहले से ही इकट्ठा कर रख लेता है। भिक्षुओं के लिए लोग विशेषतः अन्न अथवा आवश्यक वस्त्रादि ही रखे रहते हैं; क्योंकि वे द्रव्य को छूते नहीं।

यथार्थ में उनके लिए केवल आठ ही पदार्थ आवश्यक

भी हैं—पहला ठिकरा, दूसरा उस्तुरा, तीसरा सूई और चौथा पानी छानने का वस्त्र। इनके अतिरिक्त पहनने-ओढ़ने के लिए तीन वस्त्र और एक कमरबन्द। तीन वस्त्रों में दो तो पहनने के लिए और एक झूल, जिसमें बायाँ हाथ भीतर रहता है और दाहिना बाहर।

भिक्षुओं के जीवन का सार 'त्याग' और 'सादगी' है। वे योगियों की तरह उपवास और कठिन तपस्या नहीं करते। इसका एक कारण है। स्वयं बुद्ध भगवान् ने अपने अनुयायियों से कहा था कि ये व्रत-तपस्या व्यर्थ हैं। उन्होंने इसलिए ऐसा कहा था कि उसकी निस्सारता का अनुभव उन्हें स्वयं हो चुका था। उसके बदले में भिक्षुगण अनेक दूसरे कार्य करते हैं। जैसे—धर्मग्रन्थों का अध्ययन, धर्मग्रन्थों की नकल करना, ग्रन्थों को कंठस्थ करना, ध्यान करना, नव-भिक्षुकों को पढ़ाना और अपने दैनिक कर्तव्यों का पालन करना। प्रत्येक संघ में कम-से-कम एक पाठशाला रहती है। पूजा-पाठ की विधि अत्यन्त साधारण है। बुद्ध भगवान् की मूर्ति के सन्मुख फूल बखेर कर उनकी पूजा करते हैं। बुद्ध भगवान् की मूर्त्ति ध्यानावस्था की रहती है।

इससे यह नहीं समझना चाहिये कि बौद्ध-धर्मावलम्बी बुद्ध भगवान् की मूर्ति की पूजा करते हैं। वे आदर्श पुरुष के रूप में विराजमान बुद्ध भगवान् के सामने अपनी श्रद्धा प्रकट करते हैं। वे उन्हें महान् उपदेशक समझते हैं, जिन्होंने स्वयं सत्य का साक्षात्कार किया था, और दूसरों को भी उसका

उपदेश दिया। बुद्ध के मन्दिर में, जो बड़े-बड़े वृक्षों के नीचे बनाये जाते हैं, नर-नारी-गण श्रद्धा से फूल चढ़ाते हैं। वहाँ पहुँचकर लोग शान्तिपूर्वक बैठ जाते और भगवान् बुद्धदेव के जीवन-चरित पर ध्यान लगाते हैं—जिन्होंने मनुष्य को शान्ति का मार्ग दिखलाया था। कभी-कभी भिक्षुगण धर्म-ग्रन्थ को उपस्थित जन-समूह को पढ़कर सुनाते हैं; परन्तु इस प्रकार का कार्य—जैसा कि गिर्जाघर में होता है—नियमित रूप से नहीं होता।

प्रत्येक मास में दो दिन—द्वितीया और पूर्णिमा को—एक प्रान्त के भिक्षु दोष-स्वीकार की विधि करने को एकत्र होते हैं। प्रौढ़ भिक्षु धर्म-पुस्तक के पाठ की समाप्ति होने पर उपस्थित भिक्षुओं से पूछते हैं कि उनमें से किसी को दोष स्वीकार करना है या नहीं। यदि प्रथम बार सब चुप रह गये, तो यह प्रश्न दूसरी बार और फिर तीसरी बार पूछा जाता है। यदि कोई भिक्षु तीसरी बार पूछने पर भी अपना दोष स्वीकार करने को तत्पर नहीं होता, तो उसको जान-बूझकर झूठ बोलने का पाप लगता है।

बुद्ध की विमाता 'प्रजापति' ने स्त्री-संघ की स्थापना की थी। इसका भी उद्देश्य भ्रातृभाव का प्रचार करना था। भिक्षुणी-गण भी भिक्षुओं के सदृश ही संघ में रहती थीं, और उन नियमों का पालन करती थीं, जिन्हें भिक्षु उन्हें उपदेश देते थे। वे अपना दोष भिक्षुओं के सम्मुख स्वीकार करती थीं। ये भिक्षुणीगण भी इच्छानुसार संघ को छोड़कर गृहस्थाश्रम में

प्रवेश करती थीं। परन्तु वहाँ आजीवन रहने को बाध्य नहीं थीं।

बौद्ध-धर्म की आरम्भिक अवस्था में इस नवीन संघ की बहुत उन्नति हुई। इसकी स्थापना अनेक गाँव और नगरों में हुई। इनमें से कितनी ही भिक्षुणियाँ उपदेशिका बनकर बौद्ध-धर्म का प्रचार करने लगीं। उस समय की स्त्रियों को आज-कल की अपेक्षा कहीं अधिक स्वतंत्रता थी।

यद्यपि भिक्षुगण समाज में ही रहकर लोगों को उपदेश देते थे—जो कुछ भगवान बुद्ध ने उन्हें बताया था, तथापि कितने ही भिक्षु ऐसे भी थे, जो निर्जन वन में जाकर रहते थे। कभी-कभी इस प्रकार एकान्त स्थान में रहने से सांसारिक पदार्थों से ममता दूर करने में सुविधा होती है।

इस प्रकार जंगलों में रहकर भिक्षुगण प्रकृति के सच्चे प्रेमी और उपासक बन जाते थे। उसके नियमों को भलीभाँति समझ जाते थे, जिसे किसी नगर में रहने वाला कभी नहीं समझ सकता। वे जंगलों में निर्भीक होकर विचरते थे; क्योंकि उन्होंने आत्मा पर विजय पाई थी। वहाँ वे किसी वृक्ष के नीचे अथवा पहाड़ के खोह में रहते थे। जंगलों में अथवा पहाड़ की ऊँची चोटी पर वे स्वतंत्रता और आनन्द का उपभोग करते थे। उन्हें प्रकृति के साथ कितना हार्दिक प्रेम था, उनकी कविताओं द्वारा इसका पता चलता है, जो वे लिखकर छोड़ गये हैं।

नदी-तट के मनोहर फूल—सारस आदि पक्षियों के सायं-कालीन और प्रातःकालीन दृश्य—संध्याकाल की हवा, जो

वृक्षों को झुकाती रहती है—चन्द्रमा की किरणें, जो पहाड़ और जंगलों में देख पड़ती हैं—सब इस प्रकृति के एकान्त प्रेमी को शान्ति और आनन्द देने वाले होते हैं। किसी ने लिखा है कि वे शान्तचित्त होकर पहाड़ और जंगलों में विचरते हैं, आनन्द-दायक दृश्य से उनका हृदय भर आता है, और शोक तथा दुःख पीछे रह जाते हैं। यह बात नहीं कि वे केवल शान्त और सरस दृश्य से ही हर्षित होते थे, उन्हें वज्र-पात और बिजली की कड़क में भी वही स्वर्गीय आनन्द प्राप्त होता था।

भिक्षुगण इस प्रकार प्रकृति की निरीक्षकता में प्रकृति-पाठ पढ़ा करते थे। इस पाठ का प्रभाव बहुत ही लाभदायक होता था। जैसे हवा और आँधी के वेगों से चट्टान विचलित नहीं होती, उसी प्रकार प्रकृति की दीक्षा पाकर भिक्षुगणों के मन में विकार नहीं उत्पन्न होता था। क्रोध करने के अवसर पर वे क्रोधित नहीं होते थे, तब पाठ की समाप्ति समझी जाती थी—साधना पूर्ण हो जाती थी; उनका चित्त हिमालय के शिखर के समान शीतल हो जाता था, जिसे सांसारिक वासना की अग्नि संतप्त नहीं कर सकती थी।

भिक्षुगण निर्मल और धार्मिक जीवन व्यतीत करते हैं। इन्हें जो कुछ दान दिया जाता है, उसका फल यह होता है कि दाता को बहुत पुण्य मिलता है, और उन्हें ऐसा संस्कार प्राप्त हो जाता है कि बौद्ध-धर्म के सिद्धान्तों को समझने में उन्हें बड़ी सुलभता होती है। यद्यपि सब भिक्षुओं को सत्य का साक्षात्कार

स्पष्ट रूप से नहीं होता, तथापि यह बौद्धों का विश्वास है कि भिक्षुओं का जीवन सर्वोत्तम होता है।

इस संसार की सब चीजें परिवर्त्तनशील हैं। कोई भी पदार्थ स्थिर नहीं देख पड़ता। जितने पदार्थ हैं, सब विकृत होते रहते हैं। यदि ऐसी कोई वस्तु है, जो परिवर्त्तनशील नहीं है, तो वह निर्वाण है, और इसी के लिए मनुष्य को तल्लीन हो जाना चाहिये।

भगवान बुद्ध की शिक्षा को ग्रहण करना सहज नहीं है। अनेक जन्मों के उपरान्त, अनेक कष्टों को सहकर, मनुष्य सांसारिक पदार्थों की क्षण-भंगुरता के तत्त्व को समझने में समर्थ होता है।

जीवन व्यतीत हो रहा है। प्रातःकाल के बाद संध्या और संध्यादि के बाद प्रातःकाल होता है। इस क्षणिक जीवन में आनन्द देने वाला कौन-सा पदार्थ है?

बौद्ध-धर्म का प्रचार

भगवान बुद्धदेव के धार्मिक विचार अत्यन्त उदार और अनुकरणीय थे। इस प्रकार के विचार संसार में किसी भी धार्मिक उपदेशक ने प्रकट नहीं किये। बुद्धदेव ने अपने अनुयायियों से कहा—तुम सब जीवों पर दया करो, सबके प्रति प्रेम और सहानुभूति प्रकट करो, किसी से द्वेष मत करो। यदि कोई तुमसे घृणा करे, तो उसे भीतुम प्यार करो। धर्म

अथवा सत्कार्य इस अभिप्राय से मत करो कि उससे तुम्हें अच्छा फल मिलेगा, प्रत्युत निष्काम होकर अपना कर्त्तव्य करते जाओ।

यद्यपि बौद्ध-धर्म में प्रवृत्त कराने के लिए कोई वाह्याडम्बर नहीं था, तथापि बहुत-से लोग इस धर्म के मानने वाले हो गये। इस धर्म में 'व्यय' की अपेक्षा 'आय' बहुत कम है, त्याग अधिक करना पड़ता है; परन्तु प्रत्यक्ष लाभ बहुत कम है। एशिया में इस धर्म का प्रचार अधिक हुआ है—लंका, वर्मा, श्याम, जापान, चीन, तिब्बत और दूसरे-दूसरे स्थानों के सब लोग मिलाकर ५००००००००० के लगभग इस धर्म के अनुयायी होंगे। सबसे अधिक विचित्रता इस धर्म में यह है कि इसकी विजय अस्त्र-शस्त्र द्वारा नहीं हुई—इसका प्रचार तलवार की सहायता से नहीं हुआ।

जब किसी धर्म का प्रचार भिन्न-भिन्न देशों में होता है, तो धार्मिक आचार-व्यवहार में कुछ-न-कुछ विभिन्नता अवश्य हो जाती है। इस प्रकार तिब्बत और लंका में यद्यपि बौद्ध-धर्म का ही प्रचार है, तथापि कितने आचार-व्यवहार वहाँ दूसरे देशों से भिन्न हैं। एक समय था, जब भारतवर्ष में बौद्ध-धर्म की तूती बोलती थी; परन्तु अब यहाँ उसके चिह्न लुप्तप्राय हो गये हैं। बौद्ध-धर्म को सनातन-धर्म ने धर दबाया। परन्तु, यद्यपि बौद्ध-धर्म का एकदम ह्रास हो गया, तथापि उसका प्रभाव अब तक अन्यान्य धर्मों पर विद्यमान है। अब भी भारतवर्ष में कितनी ऐसी धार्मिक संस्थायें हैं, जो जीवों पर दया करने

का उपदेश देती हैं, जैसे वैष्णव-धर्म भी अहिंसा का प्रचार करता है।

भगवान् बुद्धदेव ४८० बी० सी० में (ईसा से ४८० वर्ष पूर्व) स्वर्ग सिधारे। तब से कपिलवस्तु आदि राज्यों में अनेक परिवर्त्तन हुए। धीरे-धीरे मगध की प्रधानता हुई। इसकी राजधानी पहले 'राजगृह' था। पश्चात् पाटलिपुत्र हुआ, जो वर्त्तमान 'पटना' के समीप ही था। इसका पता भी लग चुका है। यह वर्त्तमान पटने से तीन मील दक्षिण-पूर्व कोने में है। जिस समय अलक्षेन्द्र (सिकन्दर) ने भारतवर्ष पर आक्रमण किया था (३२७ बी० सी० में), उस समय मगध एक प्रधान और शक्तिशाली देश था।

चन्द्रगुप्त मगध-देश के राजा हुए। उनके राजा होने में चाणक्य ने पूरी सहायता की थी। ऐतिहासिक दृष्टि से वह प्रथम चक्रवर्ती राजा समझे जाते हैं। उन्होंने २४ वर्ष तक राज्य किया। इसके अनन्तर उनका पुत्र बिन्दुसार राजगद्दी पर बैठा। उसने भी २८ वर्ष राज्य किया।

फिर चन्द्रगुप्त के पौत्र 'अशोक' राज्याधिकारी हुए। उनका शासन-काल २७३ बी० सी० से आरम्भ होता है। बाल्यकाल में अशोक अपने पिता-पितामह की तरह सनातन-धर्मावलम्बी थे—बड़े बुद्धिमान् और न्यायी शासक थे। उन्होंने ४० वर्ष राज्य किया। प्रजा की बड़ी भलाई भी की।

अशोक जब गद्दी पर बैठे, तो उन्होंने अपने राज्य के तेरहवें वर्ष में कलिंग-देश पर, जो बंगाल की खाड़ी के तट पर था,

आक्रमण किया। उनकी विजय तो हुई; परन्तु रक्त की नदी भी बह चली! उस युद्ध में कई लाख वीर काम आये। कितने बीमार होकर पंचत्व को प्राप्त हुए, और सहस्रों की संख्या में कैदी बनाकर मगध लाये गये।

जब हम इतिहास में नेपोलियन आदि महावीरों की कथा पढ़ते हैं, तो हमें ज्ञात होता है कि उन्होंने एक के बाद दूसरा देश हस्तगत किया। उनकी अभिलाषा पूर्ण नहीं होती थी। उनके मन में दूसरे देशों को पराजित करने की उत्कंठा बनी ही रहती थी। इन्हीं कारणों से युद्ध होते रहते थे। युद्धों के कारण लोगों को जो असह्य कष्ट होता था, लोग उसकी परवा नहीं करते थे।

परन्तु अशोक का हृदय बहुत कोमल था। कलिंग के युद्ध-क्षेत्र को देखकर उनका हृदय दहल गया—आँख से आँसू की धारा बहने लगी। सोचने लगे—क्या युद्ध में इतने लोगों के प्राण जाते हैं?

इस शोच का प्रभाव उन पर बहुत पड़ा। उन्होंने अपने मन्तव्यों को पहाड़ों, चट्टानों और स्तम्भों पर खुदवाया, जो किसी-किसी स्थान में अब तक पाये जाते हैं। उनकी भाषा और लिपि प्राचीन काल की है, जिससे लोग उन मन्तव्यों को पढ़ नहीं सकते थे। परन्तु विद्वानों ने क्रमशः उस भाषा का अध्ययन करना आरम्भ कर दिया। अब तो अनेक सिद्धहस्त विद्वान हैं, जो प्राचीन लेखों को सरलतापूर्वक पढ़ लेते हैं, और उनके अर्थ भी समझ लेते हैं! यदि अशोक अपने विचारों

को शिला-लेख द्वारा प्रकट नहीं करते, तो क्या उनके विषय में आज हम कुछ भी जान पाते?

कलिंग को जीतने के चार वर्ष बाद अशोक ने एक शिला-लेख प्रकाशित किया, जिसका शीर्षक था—'श्रीमान् महाराजाधिराज अशोक के हृदयंगम क्लेश और परिताप के उद्गार, जो कलिंग-युद्ध के कारण प्रकट हुए थे'। महाराज अशोक के ही शब्दों को हम यहाँ उद्धृत करते हैं, जो शिलालेख में पाये गये हैं—

एक लाख पचास हजार (१५००००) मनुष्य कैद कर लाये गये। एक लाख (१०००००) योद्धा युद्ध-क्षेत्र में घायल हुए, और इससे कई-गुना अधिक वीर-गति को प्राप्त हुए।

महाराज अशोक तब अपने दुःख का कारण बतलाते हैं—

जो देश पराजित नहीं हुआ है, उस पर विजय पाने के लिए मार-काट करने, दूसरों का प्राण हरण करने और बन्दी करने की आवश्यकता होती है।

महाराज को इस कारण असह्य दुःख हुआ कि युद्ध के कारण कितने ही निरपराध मनुष्यों को तथा साधु-सन्यासियों को भी कष्ट उठाना पड़ा। परन्तु इस घोषणा का महत्त्व यह है कि कलिंग को राज्यान्तर्गत करने के बाद श्रीमान् की प्रवृत्ति दया और प्रेम के नियमों के प्रचार की ओर हुई, और लोगों को इन नियमों की शिक्षा भी दी जाने लगी।

'दया का नियम'—जिसका उल्लेख यहाँ किया गया है, बुद्धदेव का एक प्रधान सिद्धान्त था।

अशोक के पश्चात्ताप का फल यह हुआ कि उन्होंने उस

धर्म को स्वीकार किया, जिसमें हिंसा करना मना है, और जीवों की रक्षा करना धर्म है, अर्थात् प्राणीमात्र को सुख पहुँ-चाने को कहा गया है। अशोक का पश्चात्ताप क्षणिक नहीं था। जबसे उन्होंने बौद्धधर्म स्वीकार किया, उन्होंने अपनी समस्त प्रजा की भलाई के लिए और उनको सुख देने के लिए कुछ बाकी नहीं रखा। उनका कहना था कि सारी प्रजा मेरी सन्तान है; जिस प्रकार मैं चाहता हूँ कि मेरे पुत्र की उन्नति हो, उसे सब प्रकार के सुख-आनन्द—इहलौकिक और पार लौकिक—मिलें, उसी प्रकार मैं सबके लिए चाहता हूँ।

उन देशों को, जो मगध के समीपवर्त्ती थे, अशोक महाराज ने लिख भेजा कि आप लोग मुझसे डरें नहीं, मुझे अपना मित्र समझें और मुझ पर विश्वास करें। मैं आप लोगों को सुख पहुँचाना अपना धर्म समझता हूँ। किसी अवस्था में मैं आपको कष्ट नहीं दूँगा।

क्या इस प्रकार का राजा, जिसने अपने पर जय पाई थी, उन राजाओं से कहीं अधिक बढ़ा-चढ़ा नहीं था, जो अपने पीछे केवल कष्ट और दुःख ही छोड़ जाते हैं?

बौद्ध-धर्म को स्वीकार करने पर भी अशोक ढाई वर्ष तक संघ में सम्मिलित नहीं हुए। इसके बाद वह भिक्षु हो गये। परन्तु साथ-साथ राज्य-प्रबन्ध भी करते रहे। उन्होंने प्रजा के लिए अनेक काम किये, और उनको दशा सुधारने के लिए कुछ कसर नहीं रखा। उन्होंने पुल और सड़कें बनवाईं, कूप खुदाये, सड़कों के दोनों ओर यात्रियों के आराम के लिए

वृक्ष लगवाये, प्रधान मार्गों पर धर्मशालाओं की स्थापना कराई, और यात्रियों की सुविधा के लिए अनेक प्रकार के समुचित प्रबन्ध किये। मनुष्य और पशुओं के लिए अस्पताल (औषधालय) भी खुलवाये।

संसार में अस्पताल की स्थापना पहले-पहल अशोक ने ही की थी। रोगियों की सेवा-सुश्रूषा के लिए पहले-पहल उन्होंने ही प्रबन्ध किया था।

अशोक ने लोगों को शारीरिक सुख देने का तो पूर्ण प्रबन्ध किया ही था, साथ-साथ उन्होंने एक और अधिक महत्त्व का काम यह किया कि बुद्धदेव के सिद्धान्तों का भी खूब प्रचार किया। उन्होंने भारतवर्ष में चारों ओर भिक्षुओं को बौद्ध-धर्म को प्रचारित करने के लिए भेजा। बुद्धदेव के सिद्धान्तों को कार्य-रूप में परिणत करने के लिए राजकीय नियम बनाये। पशुओं पर दया रखने के सम्बन्ध में अधिक ध्यान दिया। यज्ञ में पशुओं का बध उनके राज्य में नहीं होता था। कई प्रकार के पशु-पक्षियों की—जिन्हें मनुष्य नहीं खाते थे—हत्या करने का निषेध किया।

महाराज अशोक शिकार नहीं करते थे। राजा के शिकार करने का वन उजाड़ कर दिया गया। शिकार खेलने के बदले वह तीर्थ-स्थानों में जाने लगे। वह दो बार भगवान् बुद्धदेव के जन्मस्थान में गये, जहाँ उन्होंने एक स्तम्भ खड़ा कराया। उस स्तम्भ पर लिखा हुआ है कि इसी स्थान में बुद्धदेव का जन्म हुआ था।